

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 10 अंक 4

अप्रैल-जून 2013

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	₹ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	₹ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. लोकतंत्र के विकल्प के खोज की पहली शर्त कैलाशचंद्र पंत	7
2. वृद्ध जीवन का उत्तर-आधुनिक विमर्श शिवनारायण	14
3. ज्ञान शंकर पुणतांबेकर	21
4. प्राग्रामायण घटनाक्रम, रामायण एवं वानर महाजाति राजीव रंजन उपाध्याय	28
5. पर्यावरण संरक्षण की ओर दिनेश मणि	41
6. प्रकृति और संस्कृति किशोरीलाल व्यास 'नीलकंठ'	50
7. गाँधी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा : वैश्विक परिदृश्य में इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता विजय कुमार	61
8. गाँधीवादी दृष्टि से प्रेमचन्द और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के उपन्यास दिनेश कुमार चौबे	68
9. हिंदी उपन्यास और राजनीति ब्रजकिशोर झा	74

10.	पूर्णिमाँ जिले के लोकगीत <i>छोटे ताल बहरदार</i>	86
11.	अवधी लोकगीतों में रामकथा के प्रसंग <i>सत्यप्रिय पाण्डेय</i>	94
12.	समीक्षा : भारत की जातीय पहचान <i>रामचन्द्र प्रधान</i>	101
13.	समीक्षा : स्त्री-पुरुष जटिल अन्तर्सम्बन्धों को व्याख्यायित करती अनूठी औपन्यासिक कृति <i>घनश्याम मैथिल 'अमृत'</i>	108
14.	समीक्षा : भारतीय राष्ट्रियता का प्रश्न <i>वरुण कुमार तिवारी</i>	112
15.	समीक्षा : सबको उजली धूप <i>मृत्युंजय उपाध्याय</i>	119

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

राष्ट्रीय आपदा और हमारा झगड़ालूपन

उत्तराखण्ड में 16 जून को बादल फटने से आये अभूतपूर्व जलप्रलय से हुई जान-मान की हानि राष्ट्रीय आपदा एवं राष्ट्रीय शोक का कारक बनी है। इस त्रासदी में मरने वालों की संख्या हजारों में है। आपदा में फँसे काफी लोगों को 12 दिन बाद तक निकालना बाकी है। अभूतपूर्व बाढ़ एवं भू-स्खलन से सड़कें एवं मकान नष्ट हो गये हैं, जिन्हें बनाने में वर्षों लगेंगे। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि ऐसी आपदाओं का आना अस्वाभाविक नहीं, लेकिन इस बार आयी आपदा का रौद्र रूप अस्वाभाविक अवश्य था, जिसने इस प्राकृतिक आपदा को भयंकर मानवीय आपदा में बदल दिया। फिर सदा की तरह इस आपदा ने हमारी राष्ट्रीय/सामाजिक कमजोरियों को अच्छाइयों को भी हमारे सामने ला दिया।

सदा की तरह इस आपदा की घड़ी में अनेकों लोग अपनी व्यक्तिगत/पारिवारिक पीड़ा को भुलाकर दूसरों की मदद करते पाये गये। ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने निर्लज्जतापूर्वक लूटपाट की, मूर्तियों के आभूषण आदि तथा मंदिर के दानपात्र के पैसे निकाले; कुछ लोग महिलाओं के शवों से गहने उतारते देखे गये। केदारनाथ धाम परिसर में फँसे यात्री पड़ोसी नेपाल से आये बदमाशों की लूट एवं छेड़छाड़ के शिकार बने।

इस देश में शवों पर राजनीति कोई नई बात नहीं रही है। लेकिन आपदा के बाद राहुल गांधी एवं नरेन्द्र मोदी की उत्तराखण्ड की यात्रा के बाद जिस तरह की राजनीतियों एवं पत्रकारों की बयानबाजी का दौर चला और समाचार माध्यम जिस तरह उसे लगातार उछालते रहे, वह दुखद ही नहीं, शालीनता-विहीन तथा लज्जाजनक भी था। प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों द्वारा केवल अपने प्रदेश के नागरिकों के सम्बंध में दिलचस्पी एक निन्दनीय एवं घटिया किस्म की मानसिकता है। भारत तेजी से झगड़ालू राष्ट्र बनता जा रहा है, यह बात हमारी राजनीति, आज के साहित्यिक लेखन तथा समाचार माध्यमों के किसी भी सजग प्रेक्षक से छिपी नहीं है। दुखद है कि इस प्रवृत्ति का लगातार विस्तार होता जा रहा है। आपदा की घड़ी में अन्तर्मुखी चिन्तन की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है।

इस संकट की घड़ी में केदारनाथ धाम में पूजा से जुड़े शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द तथा मन्दिर के मुख्य पुजारी भीमाशंकर के बीच छिड़े विवाद ने नया दुखद आयाम जोड़ दिया है। आज यह पूजा उखीमठ स्थानान्तरित हो गयी है। शंकराचार्य के अनुसार उसे मंदिर में ही होनी चाहिए। मुख्य पुजारी के अनुसार मंदिर में तब तक पूजा नहीं हो सकती जबतक उसे शुद्ध न कर लिया जाय। विवाद यहीं तक रहता तो

बात बनती। शंकराचार्य ने यहाँ तक कह दिया कि मुख्य पुजारी ने मंदिर में पूजा करने का अधिकार खो दिया है। मुख्य पुजारी का जबाब था कि शंकराचार्य को केदारनाथ की पूजा की परंपराओं का ज्ञान नहीं। स्पष्टतः विवाद सीमातिक्रमण कर रहा है। शंकराचार्य ने मुख्य पुजारी को अपात्र घोषित कर हटाने और उन्हें पूजा न करने देने की धमकी दी है; साथ ही उन्होंने केन्द्र सरकार को चेतावनी दी है और राज्य सरकार पर झूठ बोलने का आरोप मढ़ दिया है। फिलहाल मामला उलझता ही नजर आ रहा है।

यह सही है कि प्राकृतिक आपदाओं को रोकना संभव नहीं। लेकिन समय पर कदम उठाकर जानमाल की हानि में कमी तो लायी ही जा सकती है। यहाँ सरकारी कार्य-संस्कृति में भारी गिरावट तथा प्रबंध-तंत्र/सरकार की संवेदनहीनता तथा दिशा-हीनता स्पष्ट नजर आती है। 16 जून को भारी वर्षा होने की चेतावनी मौसम विभाग से प्राप्त हुई थी। उत्तराखण्ड शासन ने इसका लाभ लेकर तीर्थ यात्रियों एवं स्थानीय लोगों को चेताया नहीं था। ऐसा होने पर काफी कीमती जानें बच जातीं। उत्तराखण्ड में 2007 में आपदा प्रबंधन प्राधिकरण के गठन के बावजूद आजतक उसकी एक भी बैठक क्यों नहीं हुई? सरकार को आपदा प्रबंधन पर हुए करोड़ों रुपये के खर्च एवं उससे जुड़े कार्यों पर श्वेत पत्र निकालना चाहिए। बादल फटने एवं भूस्खलन की त्रासदी पहाड़ों पर लगातार होती रहती है। फिर इस त्रासदी के बाद ही 'हैलीपैड' क्यों बनें? पहले क्यों नहीं? त्रासदी से निबटने के प्रयास में केन्द्रीय एवं प्रदेश प्रशासन के कार्यों एवं सैनिक एवं स्थानीय प्रशासन के बीच तालमेल के अभाव की खबर दुखद है। इसमें शक नहीं कि विकास के असंतुलित ढाँचे, जंगलों की लगातार कटाई, नदियों के तट पर भवन निर्माण आदि प्राकृतिक आपदाओं में बढ़ोतरी के कारक बनते हैं। लेकिन उस हद तक नहीं, जिस हद तक हमारे तथा-कथित बड़बोले पर्यावरण-विद कहते हैं। वे वातानुकूलित घरों में रहते हैं, कार्बनिक ईंधन से चलनेवाले वाहनों का प्रयोग करते हैं, उर्जा का पर्याप्त उपयोग करते हैं, तथापि बस चले तो बिजली-उत्पादन तथा सिंचाई की सारी योजनाओं को रुकवा दें। केदारनाथ यात्रा, बदरीनाथ यात्रा, अमरनाथ यात्रा आदि का भी इन संस्कृति/परम्परा-निरक्षरों के लिए कोई महत्त्व नहीं। उनके लिए तीर्थ-यात्रा एवं पर्यटन की सीमा-रेखा गायब है।

ब्रज बिहारी कुमार

लोकतंत्र के विकल्प के खोज की पहली शर्त

कैलाशचंद्र पंत*

व्यक्ति ही वह धुरी है जिसे केंद्र में रखकर समाज का गठन होता है। समाज के गठन में वह स्वेच्छा से अपनी प्राकृत स्वतंत्रता पर एक सामूहिक नियंत्रण स्वीकार करने के लिए तैयार होता है। अपने व्यक्तिगत विवेक की अपेक्षा सामाजिक विवेक की श्रेष्ठता को स्वीकृति प्रदान कर समाज की सत्ता स्थापित करने की युक्ति मानव-मेधा की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। इसे एक से अनेक की ओर प्रस्थान की आधार-शिला माना जा सकता है। अपने एकाकीपन से ऊबकर, अपनी सुरक्षा और अस्तित्व को बचाए रखने या बेहतर बनाने की उम्मीद से मनुष्य ने मनमाने ढंग से जीने के अधिकार को भले ही छोड़ा हो, लेकिन जिस क्षण उसने यह निर्णय लिया होगा, उसमें अपने 'स्व' को समझने का विवेक अनजाने ही अवश्य जागृत हुआ होगा। मानव इतिहास में यह घटना असाधारण थी। यहीं से मनुष्य की बहिर्यात्रा के साथ अंतर्यात्रा शुरू हुई थी। प्रारंभिक अवस्था में निस्संदेह पुरुष और स्त्री का मिलन शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए रहा होगा संतान के हो जाने पर दो का तीन हो जाना परिवार के रिश्तों का स्थायी बंधन बना। इसका अर्थ यही है कि प्रेम का भाव और उसके फलस्वरूप वात्सल्य का भाव उसमें जन्मा। इन भावों की पूर्ति के लिए उसे दूसरों के सहयोग की जरूरत महसूस हुई, जिनकी मदद से वह आवास बना सके; शीत, वर्षा, आतप में अपने को और अपने से ज्यादा उस संतान को सुरक्षित रख सके। इसी बिंदु पर वह बाह्य जगत में सहारा पाने के लिए अपने से पृथक अन्य को भी अपना बनाने के लिए छटपटाया होगा। समाज की ओर उसकी यह बहिर्यात्रा थी। साथ ही स्त्री-पुरुष के बीच रागात्मक भाव की जागृति, उनके मूल स्रोत को समझने के प्रयास की अंतर्यात्रा की प्रक्रिया भी प्रारंभ हो गई। ये दोनों प्रकार की यात्राएँ अपनी प्रारंभिक अवस्था में काफी स्थूल रही होंगी। लेकिन एक बार समाज का गठन हो जाने के बाद बहुत सारे

* कैलाशचन्द्र पन्त, मंत्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं प्रधान सम्पादक, अक्षरा; पता : 9/35, सहायद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

व्यक्तियों की मेधा काम करती रही। उनमें से कुछ मेधावी प्रतिभाओं ने समाज के बाहरी नियमन को व्यवस्थित करने के नियम बनाए। उसे आचार-शास्त्र कहा गया। आगे चलकर जिसे धर्म की संज्ञा दी गई, वह वस्तुतः मनुष्य के जीवन का आचरण-शास्त्र ही है, जिनका पालन करते हुए समाज के बीच अपनी अस्मिता को कायम रखते हुए भी वह सद्भाव से जी पाता है। समाज का गठन एक लंबी प्रक्रिया की फलश्रुति है और उसकी सत्ता को नकारने का साहस व्यक्ति नहीं कर पाता, चाहे वह कितना ही शक्ति-संपन्न क्यों न हो।

इस प्रक्रिया के बीच ही मनुष्य की दो अन्य महत्वपूर्ण यात्राएँ संपन्न हुईं। उसकी बहिर्यात्रा जिसमें समाज के सहयोग से अपनी जीवन-शैली को उन्नत बनाने के रास्ते खोजे गए रोटी, कपड़ा, और मकान से जुड़ी समस्याओं का समाधान ही नहीं किया गया, जीवन को सुविधासंपन्न बनाने के तरीके भी खोजे गए। यह बहिर्यात्रा सभ्यता के विकास में सहायक हुई। इसमें भाषा की खोज सबसे बड़ी उपलब्धि थी, जिसने सभ्यता के उपकरणों की तलाश से लेकर उनके प्रसार तक में मदद की। लेकिन इससे भी बड़ी और ज्यादा महत्वपूर्ण मनुष्य की अंतर्यात्रा सामाजिक संगठन की प्रक्रिया के दौर में ही प्रारंभ हुई। उसने पहली बार अपने 'स्व' को समझने की जिज्ञासा के वशीभूत अपने होने के कारणों पर विचार करना प्रारंभ किया। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और कहाँ जाऊँगा? इन प्रश्नों की खोज ने ज्ञान की जिस विधा का द्वार खोला उसे अध्यात्म कहा गया। आध्यात्मिक खोज में ही उसे अनुभूति हुई कि वह जो कुछ अपने आस-पास देख पा रहा है, वही 'सब कुछ' नहीं है। संसार उससे बहुत ज्यादा बड़ा और विशाल है। इस विशालता का भान होते ही उसे लगा कि इस पूरे संसार को चलानेवाली कोई नियामक शक्ति है। क्योंकि सभ्यता के बढ़ते चरणों के साथ संसार की व्यापकता का यथार्थ प्रकट होने लगा होगा और उस संसार के आगे संपूर्ण सृष्टि का चित्र भी उसके समक्ष आ गया होगा। आध्यात्मिक अंतर्यात्रा ने तब परमेष्ठि की अनुभूति कराई होगी। पृथ्वी के अधिकांश मानव-समूह इस अदृश्य शक्ति पर आस्था रखते हैं। आखिर यह कैसे संभव हुआ? अपने 'स्व' को समझने के प्रयास में ही अपने भीतर की असीम शक्ति का आभास और उसके साथ-ही-साथ जीवन की परिसीमाओं का अनुमान लगते ही प्रकृति और मनुष्य के रिश्तों का विश्लेषण प्रारंभ हुआ। यह बात उभरकर सामने आई होगी कि मनुष्य के भीतर ही कुछ कोमलतर तरंगें प्रवाहित हैं और उसमें रागात्मिक वृत्ति है, जो सृजन के द्वारा मनुष्य की उन प्राकृत प्रवृत्तियों का शमन कर सकती है, जो भीतर के विध्वंसक तत्त्व को उकसाती हैं। इन सूत्रों का प्रणयन करनेवालों ने संस्कृति के विकास का राजमार्ग खोला कला, संगीत, साहित्य आदि विधाओं ने ममता, करुणा, दया जैसी मानवीय वृत्तियों का पोषण किया। फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन बना रह सका। इस तरह

समाज की अवधारणा एक सशक्त आधार के साथ खड़ी ही नहीं है, बल्कि अपनी शक्ति से राज्य की अवधारणा को स्वीकार और नियंत्रित करती है।

संस्कृति जहाँ मनुष्य की अंतर्यात्रा की अभिव्यक्ति है, वहीं सभ्यता उसकी बहिर्यात्रा का परिणाम है। संस्कृति के सूत्र ही सभ्यता के स्वरूप का निर्माण करते हैं। जहाँ दोनों में अंतर्द्वंद्व पैदा होता है, वहीं मनुष्यता के आगे संकट खड़ा हो जाता है।

राज्य नामक संस्था को लेकर भी संसार में संघर्ष होते रहे हैं। आखिर राज्य के अस्तित्व को जब समाज की स्वीकृति प्राप्त हुई, तभी तो वह अस्तित्व में आया। पूरा जन-समाज तो कभी राज्य कर नहीं सकता। या तो कोई एक व्यक्ति करेगा या कुछ व्यक्तियों के समूह ही राज्य के नियंत्रक होंगे। राजा हो या तानाशाह अथवा कुलीनतंत्री शासक अधिकार पा लेने के बाद उनकी प्राकृत वृत्तियों के उभरने पर स्वेच्छाचारी हो जाना बहुत संभव है। यह स्वेच्छाचार उन्हें लोकाचार से दूर कर देता है। इसलिए समाज को संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष अक्सर हिंसक होता है, क्योंकि माना गया कि राज्य का अधिष्ठान शक्ति है। भारत के सांस्कृतिक प्रवाह ने दैविक और आसुरी शक्तियों के बीच सीधा विभाजन किया है। हमने देवी या देवता की शक्ति के सम्मुख शीघ्र झुकाया है, क्योंकि उसे परम करुणालय माना है। उसमें सत्य, शिव और सुंदर की प्रतिष्ठा की है। उस सर्वोपरि सत्ता की स्वीकृति ने भारतीय संस्कृति के प्रवाह को आस्थावान और आध्यात्मिक बनाया। उसी के आधार पर सत्ता को या राज्य को नियंत्रित करने का प्रयास किया। यह असाधारण परंपरा ही थी, जिसने काशी नरेश को विश्वनाथ की परिधि से बाहर राजनिवास बनाकर राज्य चलाने की प्रेरणा दी और मेवाड़ के राणाओं को भगवान एकलिंग के प्रतिनिधि के रूप में राजसिंहासन पर बैठने की शक्ति दी। इसके कारण ही राजा और प्रजा के बीच संतुलन बना रह पाता है। राजाओं ने भी कभी सामाजिक शक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया। जब कभी इसमें व्यतिक्रम आया असंतोष बढ़ा और राजा को पदत्याग करना पड़ा।

जब स्वाधीनता के बाद हमने लोकतंत्र स्वीकार किया तो स्वराज की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया था। यह स्वराज्य क्या था? इसे परिभाषित करते हुए गाँधी जी ने एक शब्द दिया था राम राज्य। प्रश्न खड़ा हो सकता है कि राम तो राजा थे। फिर गाँधी स्वराज के पर्याय के रूप में राम को क्यों खड़ा कर रहे थे? इसे समझाने के लिए मौजूदा प्रजातंत्र की जननी समझे जानेवाले इंग्लैंड की भर्त्सना करते हुए वे वहाँ की पार्लियामेंट को बेसवा बताते थे। बेसवा गुजराती शब्द है। इसका अर्थ है वैश्या। हमारे लोक मानस में यह बहुत ही गर्हित शब्द है। गाँधी जी जैसा आदर्शवादी व्यक्ति जब इस शब्द का प्रयोग करता है तो बात कुछ गहरी होगी। उसे समझने की आवश्यकता है।

वर्तमान संसदीय प्रणाली दलीय आधार पर संचालित होती है। जिस दल को बहुमत मिलता है, वही सत्ता पर बैठता है। दल का नेता बेशक निर्वाचित सांसदों द्वारा चुना जाता है। वही मंत्रिमंडल का चयन करता है। मंत्रिमंडल वही निर्णय लेता है, जिस पर नेता की सहमति हो। जब कोई फैसला संसद के सामने स्वीकृति के लिए जाता है, तब सत्ताधारी दल के सदस्यों की विवशता होती है कि उसके पक्ष में मतदान करें। ऐसा न करने पर दल से निष्कापित होने का खतरा है, क्योंकि दल की ओर से सचेतक (व्हिप) जारी हो जाता है। अपने राजनीतिक भविष्य की चिंता सांसद को अपनी स्वतंत्र इच्छा से काम करने में बाधक है। कई बार दल का नेता बदलने के साथ ही वफादारियाँ भी तुरंत बदल जाती हैं। इससे जाहिर है कि वर्तमान पद्धति में व्यक्ति के चरित्र का कोई स्थान नहीं। सब कुछ स्वार्थ-प्रेरित होता है। स्वाभाविक है कि चुनाव में जो लोग खड़े होंगे, वे अपने 'स्व' को, अपनी स्वायत्तता को, अपने चरित्र को कायम रखते हुए न तो उम्मीदवारी हासिल कर सकते हैं और न चुनाव लड़ सकते हैं। फिर विजय प्राप्त करने के लिए जो हथकंडे वे अपनाएँगे, उनमें परमार्थ या सेवा की दृष्टि कैसे आएगी? वर्तमान चुनाव-पद्धति और संसदीय प्रक्रिया को गाँधी ने इंग्लैंड में रहकर निकट से जाना था और इसीलिए उनके मन में इस पद्धति के विरुद्ध रोष था।

गाँधी ने जब रामराज्य की बात कही तो भारत के लोक में रचे-बसे राम की छवि, उनका आदर्श, उनकी सत्यनिष्ठा और समाज से उनका गहरा जुड़ाव ही रहा होगा। राम को भारतीय संस्कृति के पर्याय के रूप में जो स्वीकृति मिली है, वह मानव इतिहास में बेमिसाल है। उन्हें शील, शक्ति और सौंदर्य से युक्त मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया। गाँधी स्वयं जीवन के हर क्षेत्र में मर्यादा की लक्ष्मण-रेखा खींचते चले गए। वह सत्य का आचरण हो, अहिंसा का प्रयोग हो या प्राणियों के बीच प्रेम हो। वे प्रतिदिन के सामान्य जीवन में उपभोग को भी मर्यादित करने की अपेक्षा रखते रहे। राज्य से भी वे इसी बात की अपेक्षा करते हैं। राज्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण राम हैं। इसी रामत्व की प्रतिष्ठा वे करना चाहते हैं। गाँधी का जीवन एक प्रयोगशाला है। इस प्रयोगशाला में वे रामत्व को व्यवहार में उतारने के प्रयोग करते रहे। वे ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भारत की संस्कृति को नष्ट करने के षड्यंत्र को समझकर उसके विरुद्ध संघर्ष का शंखनाद करते हैं। क्या यह शंखनाद वैसा ही नहीं है, जैसा ऋषि-मुनियों में राक्षसों के अत्याचार देखने के बाद राम की शपथ में सुनाई देता है

निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।।

फिर व्यक्तिगत सत्याग्रह क्या था? प्रत्येक भारतीय के दिल को साम्राज्यवादी राक्षस के भय से मुक्त कर देने का उपक्रम ही तो था। राम ने वानर सेना को संगठित कर रावण के साम्राज्य से युद्ध करने का संकल्प भर दिया था। गाँधी ने भारत के आम

जन में साहस का संचार कर दिखाया। नमक सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी गाँधी की रणनीति का हिस्सा थे। इनके माध्यम से वे अहिंसा का, शांतिपूर्ण प्रतिरोध का प्रयोग कर रहे थे। सत्य को छोड़ा नहीं और मन में किसी प्रकार की कटुता को आने नहीं दिया। भारत की जनता को चरखा दिया और झाड़ू भी। चरखा संकेत था आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था का और झाड़ू श्रम की प्रतिष्ठा के साथ ही सामाजिक समरसता का। प्रयास था कि भारत के प्रत्येक जन में रामत्व की प्रतिष्ठा की जाए। राम ने वनवासियों को गले लगाया था, अहिल्या का उद्धार किया था, शबरी के जूटे बेर खाए थे और हनुमान से कहा था कि तुम्हारे ऋण से उद्धार नहीं हो सकता। चरित्र की यह उदात्तता आने पर ही रामराज्य की स्थापना संभव हो पाती है।

रामराज्य की इस अवधारणा पर हमारे बीच विद्यमान गाँधी विचार के गहन अध्येता न्यायमूर्ति चंद्रशेखर धर्माधिकारी महत्त्वपूर्ण व्याख्या करते हुए लिखते हैं

“राजनीतिक परिभाषा में रामराज्य का आशय है ऐसा सर्वांग परिपूर्ण लोकतंत्र, जिसमें संपन्नता और विपन्नता, वर्ण, वंश अथवा स्त्री-पुरुष भेद खत्म हो जाते हैं। ऐसे राज्य में राज्य सत्ता प्रजा के हाथों में रहती है। न्याय, शीघ्र, निर्दोष और कम खर्च में मिलता है। इसीलिए ऐसे राज्य में उपासना की, अभिव्यक्ति की और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता रहती है। ऐसे राज्य या शासन सत्य और अहिंसा के स्तंभों पर आधारित रहना चाहिए और उसमें सुखी, समृद्ध तथा स्वयंपूर्ण देहात और ग्राम स्वराज रहे।”

इस विश्लेषण में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरे हैं। पहला, राज्य का आधार सत्य और अहिंसा बताया गया। दूसरा तथ्य आत्म-निर्भरता है। गाँव एक स्वायत्त इकाई बने, जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होगी। आत्मनिर्भरता से ही स्वतंत्रता बनी रह सकती है। राज्य की शक्ति में अपरिमित विस्तार का मुख्य कारण समाज की सरकार पर आर्थिक निर्भरता बढ़ना है। स्वराज्य की बुनियादी शर्त स्वतंत्रता है। किसी भी प्रकार की पराधीनता मनुष्य के 'स्व'-बोध का अपहरण करती है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसी बोध की उपज है। राज्य के आश्रय पर पलनेवाले स्वाधीनता के साथ अपने विचारों को कैसे प्रकट कर सकते हैं? राज्य के हितों के विपरित किसी भी स्वर को सत्ता दबा देती है।

रामराज्य की अवधारणा को ज्यादा स्पष्ट करते हुए श्री धर्माधिकारी ने लिखा “मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सत्ता रहने से सही रामराज्य नहीं आ सकता। राज्य सत्ता का दुरुपयोग होगा तो उसके प्रतिकार की शक्ति या सामर्थ्य जनता के हाथ में रहेगी। लोकमत का सम्मान करनेवाले राम का राज्य यानी रामराज्य शासक तथा गरीब के जीवन स्तर में आज जैसा जमीन-आसमान का अंतर नहीं रहेगा। राजा और रंक दोनों के बच्चे एक ही पाठशाला में पढ़ेंगे। रामराज्य में राज्य रहेगा, पर उसमें भोग निष्ठा या सत्ता-लोलुपता नहीं रहेगी। सत्ता से सत्य अधिक मूल्यवान माना जाएगा। यह लोकमत की उत्कट भावना का प्रतीक है। यही महात्मा गाँधी का रामराज्य का

सपना था। ...रामराज्य में जो गद्दी के हकदार थे, वे उम्मीदवार नहीं थे। जहाँ हकदार उम्मीदवार नहीं होते, वहीं रामराज्य है। जहाँ सभी हकदार उम्मीदवार होते हैं, वह हरामराज्य होता है।”

लोकतंत्र की संसदीय पद्धति में एक ओर तो सांसद अपनी आत्मा की आवाज पर आचरण न करते हुए ‘स्व’ को मार देते हैं और दूसरी ओर अपने स्वार्थों की पूर्ति करते हुए राज्य को शोषण का औजार बना लेते हैं। वे लोक की हत्या के अपराधी भी बन जाते हैं। इस कारण कल्याणकारी राज्य का सपना टूट जाता है। जब सपना टूटता है तो राज्य के प्रति आक्रोश जन्म लेता है और अराजकता फैल जाती है। ऐसी अराजक स्थिति का सामना करने के पूर्व ही यदि मौजूदा लोकतंत्र के विकल्प पर चिंतन करें तो यह राष्ट्रहित में होगा। हमें ऐसा करना चाहिए और हमारे देश के पास संस्कृति के सूत्र मौजूद हैं, जो हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं; इस अँधेरे में रोशनी दिखा सकते हैं।

जैसा कहा गया कि गाँधीजी स्वयं प्रयोगशाला थे। उन्होंने अपने प्रयोग से स्वतंत्रता की लड़ाई को एक दिशा दी और भारत की स्थिति के अनुरूप ग्राम-स्वराज की बात कही थी। आज विश्व जिस भौतिक विकास की चकाचौंध में फँस चुका है, उसमें गाँधीजी की सभी बातों का सफल होना संदेहास्पद लग सकता है, लेकिन उनके सूत्रों को पकड़कर लोकतंत्र को सार्थक और जीवंत बनाने के कुछ प्रयोग तो किए ही जा सकते हैं। यह करने का साहस वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व के पास तो नहीं ही है। दुर्भाग्य से इस समय देश में साहसी और आत्मबल से संपन्न सामाजिक नेतृत्व भी दिखाई नहीं देता। तब प्रश्न खड़ा होता है कि शुरुआत कौन करे और कहाँ से करे?

पहली आवश्यकता है कि समाज में प्रतिरोध की क्षमता विकसित हो। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हमें हमारी सांस्कृतिक जड़ों से उच्छेदित करने की योजना को कुशलतापूर्वक क्रियान्वित किया था। उसने भारत को इतनी गहरी आत्मविस्मृति में धकेल दिया कि हम भारतीय अस्मिता को आज भी याद नहीं कर पा रहे हैं। स्वाधीन भारत में राज्य ने समाज के बिखराव की गति तेज कर दी और समाज की उन तमाम इकाइयों को पंगु बना दिया, जो उसकी तेजस्विता की रक्षा कर सकती थीं। जब तेजस्विता नहीं रहती, तब प्रतिरोध की शक्ति कहाँ से आएगी? जो समाज अनादिकाल से राज्य की सत्ता के समानांतर अपनी सत्ता बरकरार रख सका था, वही समाज स्वतंत्रता के पैसठ वर्षों में ऐसा नेतृत्व खड़ा नहीं कर सका, जो राज्य की विध्वंसक शक्ति को चुनौती दे सके। इस सामाजिक कमजोरी को समझकर ही समाज के पुनर्गठन की दिशा में पहल करना उचित होगा। वैसे समाज की क्षमता के कुछ संकेत हमें दलित-चेतना, स्त्री-चेतना और सामाजिक कुप्रथाओं या अवांछित वर्जनाओं के विरुद्ध युवा-चेतना में दिखाई देते हैं। परंतु इन सभी जागरण के प्रतिमानों (यदि इन्हें प्रतिमान माना जा सके तो) में देश या राष्ट्र का समग्र सोच पूरी तरह नदारद है। यह

चिंता का विषय होना चाहिए कि भारत में समय-समय पर खड़े होते आंदोलनों में गाँव कहीं नहीं हैं। भारत का लोक मुख्यतः गाँव में ही बसता है और जिसे हम अशिक्षित, पिछड़ा हुआ ग्रामीण या आदिवासी कहते हैं, सांस्कृतिक मूल्यों पर उसकी प्रतिबद्धता आज भी कायम है। अतः एक आशा बंधती है कि सामाजिक शक्ति के अभ्युदय की संभावना ग्रामीण और आदिवासी भारत में तलाशी जाए। सच्चाई यह भी है कि वह राज्य पर अधिक आश्रित नहीं हो पाया, इसलिए उसमें प्रतिरोध की क्षमता भी मौजूद है। उस समाज को केवल राज्य के आतंक से मुक्त करने का मंत्र देना होगा। प्रतिरोध के उस स्वर को ऊर्जा देने और संबल प्रदान करने का काम उन विचारशील विद्वानों को करना होगा, जो वर्तमान स्थिति से व्याकुल हैं। उन्हें छोटे-छोटे अनेक मंच तैयार करने होंगे, जहाँ से राज्य तक प्रतिरोध की आवाज पहुँचाई जा सके। इन मंचों को ही जनमत की अभिव्यक्ति का सशक्त आकार देना होगा। यह तभी संभव है, जब विचारशील विद्वत समाज अपनी सुविधाओं को त्याग कर आगे आए। स्वतंत्रता आंदोलन में कई नामी वकीलों ने, डॉक्टरों ने, प्रोफेसरों ने, संपादकों ने अपनी सुख-सुविधाओं को त्याग कर आंदोलन की राह पकड़ी थी। अब समय आ गया है कि समाज की शक्ति की पुनःप्रतिष्ठा के लिए हम अपनी सुविधा की चादर से बाहर निकलें और अपने विचारों को कर्म की निष्ठा से अभिव्यक्त करें। स्वतंत्रता के बाद स्वराज का आंदोलन त्याग की ज्यादा अपेक्षा रखता है।

यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो मानना पड़ेगा कि पूरा समाज लकवाग्रस्त होकर पुरुषार्थविहिन हो चुका है। लेकिन इतिहास साक्षी है कि जब भी देश के समक्ष ऐसी निराशापूर्ण स्थिति आई है कोई विचारक, संत या नेता उभरकर सामने आया और उसने चुनौती स्वीकार की। इसलिए हमें लोकतंत्र का विकल्प खोजते हुए सबसे पहले व्यक्ति के निर्माण का व्यापक कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। कोई भी प्रणाली हो, सही व्यक्ति के अभाव में उसका विकृत हो जाना संभव रहता है। स्वतंत्रता के बाद चरित्र-निर्माण की दिशा में कोई प्रयास नहीं किए गए। व्यक्तियों से ही समाज का निर्माण होता है। समाज की विभिन्न इकाइयों का संचालन भी अंततः व्यक्ति ही करेंगे। इसलिए धुरी पर सर्वाधिक ध्यान रखना होगा। यदि चरित्र संपन्न व्यक्तियों के हाथों में सामाजिक नेतृत्व होगा तो सत्ता को नियंत्रित कर पाना सुगम हो जाएगा। तब राज्य को अपने जन्मदाता समाज पर श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होगी। फिर राज्यकर्ता भी तो उसी समाज से उभरकर निकलेंगे, जो अपनी तेजस्विता से युक्त होंगे। किसी वैकल्पिक व्यवस्था की खोज तभी सार्थक होगी, जब हम प्राथमिक स्तर पर व्यक्ति निर्माण की दिशा खोज लेंगे।

वृद्ध जीवन का उत्तर-आधुनिक विमर्श

शिवनारायण*

साल-भर पहले की घटना है। मैं राँची से पटना लौट रहा था। ट्रेन गया जंक्शन पर लगी ही थी कि अधेड़-सा व्यक्ति आतंकित मुद्रा में मेरे वातानुकूलित कोच में आ घुसा। इधर-उधर देखता हुआ मेरे सामने के बर्थ के नीचे घुस फर्श पर लेट गया। वह लंबी-लंबी साँसें ले रहा था। कूपे में हम सभी यात्री अचकचा-से गए थे। कुछ समझ पाते कि तभी धड़धड़ाते हुए दो युवक वहाँ आ पहुँचे। एक के हाथ में चाकू था। दूसरे ने कड़कती आवाज में सभी को सुनाते हुए कहा 'आप लोगों ने किसी बाहरी व्यक्ति को यहाँ देखा है क्या? इसी बोगी में वह घुसा है।' जाने क्यों किसी ने सहमति में जवाब नहीं दिया। युवक तेजी से निकल गए। थोड़ी देर बाद वह अधेड़ बाहर निकला और डरी-सहमी दृष्टि से चारों तरफ देखने लगा। पास के एक यात्री ने उससे पूछा 'कौन हैं आप? उन लड़कों के भय से इस तरह क्यों छिप गए थे?' अधेड़ ने जैसे कुछ सुना ही न हो। वह अब तक भयाक्रांत हाँफ रहा था। कई यात्रियों ने लगभग एक साथ पूछा 'लड़के आपको क्यों खोज रहे थे? कौन थे वे?' अब तक अधेड़ थोड़ा निश्चिंत हो चुका था। बाहर निकल उसने कहा 'मेरा नाम कृष्णकांत है। मैं यहीं पास के प्रखंड कार्यालय में कृषि पर्यवेक्षक के पद पर कार्यरत हूँ। अगले ही महीने मैं अवकाश ग्रहण करने वाला हूँ। दोनों ही युवक मेरे पुत्र थे। दोनों बेरोजगार स्नातक हैं। बेरोजगारी से तंग आकर अपराध के मार्ग पर बढ़ चले हैं। कल रात दोनों ने मिलकर एक खतरनाक निर्णय लिया। वे मुझे मार देना चाहते हैं। एक बेटे को मेरी नौकरी चाहिए, तो दूसरा मेरे पी.एफ. आदि लाभांश पर ही संतोष कर लेगा। दोनों इस बँटवारे पर खुश हैं। कल रात उनकी बातें मैंने सुन ली थी, इसलिए भागा-भाग फिरे रहा हूँ। महीने-भर बाद अवकाश ग्रहण कर जाने पर फिर उनसे कोई खतरा नहीं रहेगा।'

*डॉ. शिवनारायण, संपादक, नई आरा, पटना; संपर्क : 305, अमन अपार्टमेंट, शांति निकेतन कॉलोनी भूतनाथ रोड, पटना-800026, मो. 09334333509

कृष्णकांत की बातें सुन हम अवाकू थे। हमें सहसा उनकी बातों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था, पर सच्चाई सामने थी! पुत्र पिता की हत्या के लिए उसे खोजता फिर रहा है। इस नग्न यथार्थ के पर्दाफाश से कृष्णकांत के प्रति हमारी सहानुभूति उमड़ने लगी थी। पिता अपने वार्षिक की संरक्षा के निमित्त पुत्र के लिए क्या-क्या नहीं करता है! आखिर किस जटिल युग में हम जी रहे हैं कि पुत्र ही पिता का हंता बनने को उतावला घूम रहा है! तभी मुझे एक-दूसरी घटना का स्मरण हो आया। दो साल पहले की घटना है। पटना के पाटलिपुत्र कॉलोनी में एक मित्र के यहाँ किसी आयोजन में गया था। वहीं एक वृद्ध से भेंट हुई। वे पड़ोस के एक बंगले में रहते थे। भूतपूर्व आई.ए.एस. थे। उनकी साहित्यिक उन्मुखता के कारण उनसे मेरी पहचान बढ़ती चली गई थी। आयोजन के बाद वे अपने बँगले में मुझे चाय पिलाने के बहाने ले गए। उनके बँगले का आधा हिस्सा किराए पर लगा था, जबकि आधे के आधे में उनका पुत्र रहता था। वे अकेले रहते थे। भोजन-भाजन का इंतजाम पुत्र पर था। चाय-नाश्ते आदि के लिए सेवक थे। पुत्र से अलग रहने का कारण पूछने पर बेधड़क बोले 'मैं अपनी स्वतंत्रता गिरवी नहीं रख सकता।' उनकी पत्नी का वर्षों पहले निधन हो चुका था। परिवार के बारे में पूछने पर ठंडे गर्व से बताने लगे 'मेरे तीन बेटे हैं। एक कनाडा में इंजीनियर और दूसरा अमेरिका में डॉक्टर है। मेरे साथ बीच वाला बेटा रहता है। उसे कोई नौकरी नहीं मिली। उसकी पत्नी एक कॉलेज में पढ़ाती है। इसी बेटे की बड़ी चिंता लगी रहती है। मेरी दो बेटियाँ भी हैं। दोनों की शादी हो चुकी है। मेरा बड़ा दादा गुजरात कैडर में आई.पी.एस. है, जबकि छोटा दामाद साउथ कोरिया में है। मैं आराम से जिंदगी बसर कर रहा हूँ।'

मैंने महसूस किया कि बीच वाले बेटे की चर्चा करते हुए उनका चेहरा तल्ल हो गया था, जबकि अन्य बेटे-दामाद की चर्चा में एक प्रकार की निस्संगता का भाव उनके चेहरे पर झिलमिलाता। अस्सी पार की उनकी दिनचर्या में काफी थकान झलकती, कदाचित्त बेबसी भी। उसी कॉलोनी में रहने वाले मेरे एक कथाकार मित्र ने मुझे बताया था कि आम के बगीचों को काटकर कभी इस कॉलोनी को बड़े लोगों ने हसरत से बसाया था। बड़े-बड़े डॉक्टर, इंजीनियर, आई.ए.एस., आई.पी.एस., बिजनेसमैन आदि की कोठियों से सजा-सँवरा यह पूरा मोहल्ला राजधानी का आकर्षण केंद्र था। प्रायः कांतिहीन कोठियों में बूढ़ों की निस्तेज उपस्थिति त्रासद कथाओं की एक-सी बानगी बयान करतीं। बच्चे बड़े होकर काबिल तो बने, पर विदेश चले गए या अन्य राज्यों में विस्थापित हो गए। बच गए बूढ़े... घर-जमीन के मोह में संपत्ति जोगते दिन बिता रहे हैं। उपेक्षा, तिरस्कार और एकाकीपन को झेलते अपने स्वर्णिम दिनों की याद में जीते-जागते स्मारक!

जाने कितनी बार मैं उस कॉलोनी में गया। कितने ही लोगों से मिला! सबकी कहानी एक जैसी। मुझे स्मरण आया... 'नई धारा' के संस्थापक-संपादक उदयराज

सिंह ने अपने अंतिम संपादकीय 'बिछुड़त मोर प्राण हर लेही' (अप्रैल-मई, 2004) में लिखा था 'वार्द्धक्य भार से लदे जीवन को किसी अपनों के पास होने की लालसा होती है। पुत्र में क्योंकि अपने ही जीवन की प्रतिछवियाँ दिखती हैं, इसलिए वार्द्धक्य में उसके ही निकट रहने की अदम्य इच्छा होती है। किसी भी पिता की यह सहज इच्छा होती है। मेरे मन में भी ऐसी इच्छाएँ बुदबुदाती रहती हैं। जब कभी मेरा बेटा मेरे साथ होता है, मेरा मन उत्सव मनाने लगता है। इस बार होली में समीर पटना आया, तो अगले चार दिनों तक हमारे साथ रहा। होली हमारे साथ मनाकर लौटने लगा तो विदाई का वह समय मुझ पर भारी पड़ने लगा। मैं और मेरी पत्नी उसे मोटर से विदा करते ही फूट-फूटकर रोने लगे।'

भूमंडलीकरण के इस पूँजी बाजार के युग में जबकि परिवार की अवधारणा पति-पत्नी और बच्चे तक ही सीमित होकर रह गई है, बुढ़ापे में बच्चों से बिलगाव के बाद एकांतवास का दंश झेलना वृद्ध जीवन का आम हिस्सा बनता जा रहा है। बच्चे पढ़-लिखकर योग्य नागरिक बने, तो भी उनसे अलग रहने की विवशता और यदि बच्चे नाकाबिल रह गए तो फिर कृष्णकांत के वार्द्धक्य जीवन से मिलता-जुलता अनुभव ही बूढ़े माँ-बाप के हिस्से आता है। पूँजी विस्तार ने आधुनिक जीवन-शैली की भौतिक सुविधाएँ चाहे जितनी परोसी हों, किंतु पारिवारिक संरचना को छिन्न-भिन्न कर उनमें निहित प्रेम के प्रभाव को उसने निस्तेज कर दिया है। भारत में क्योंकि पश्चिम की तरह वृद्ध जीवन जीने की कोई पूर्व योजना बनाने की संस्कृति का विकास नहीं हो पाया है, इसलिए वार्द्धक्य जीवन लोगों के लिए भार बन जाता है। ऐसे लोगों के लिए वार्द्धक्य असह्य संतापकारी होता है।

देखा जाए तो वार्द्धक्य आयु का एक ऐसा पड़ाव है, जहाँ व्यक्ति शारीरिक-मानसिक रूप से शिथिल पड़ने लगता है। विश्व में जनसंख्या वृद्धि के साथ ही व्यक्ति की औसत आयु में भी वृद्धि होती जा रही है। बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण भी लोगों की आयु बढ़ रही है। अध्ययन बताते हैं कि भारत में 1947 में औसत आयु मात्र 29 वर्ष थी, जो अब बढ़कर 63 वर्ष हो गई है। माना जाता है कि वर्ष 2035 में विश्व की जनसंख्या लगभग 1351.80 करोड़ हो जाएगी, जिसमें 60 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों की संख्या 168.50 करोड़ होगी। यह पूरी आबादी का 12.5 प्रतिशत होगा। वर्ष 2050 में यह अनुपात स्वभावतः कहीं अधिक होगा। जनसंख्या विशेषज्ञ बताते हैं कि उक्त वर्ष विश्व की आबादी 1572 करोड़ हो जाएगी, जिसमें 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की संख्या 324.30 करोड़ हो जाएगी, जो कुल जनसंख्या का 20.6 प्रतिशत होगा। मतलब हर 5 व्यक्तियों में एक व्यक्ति 60 से अधिक आयु का होगा। अपने देश भारत के संदर्भ में देखें, तो यहाँ 1951 से 60 से अधिक उम्र वालों की संख्या लगभग 2 करोड़ थी, जो 2001 की जनगणना में 7.60 करोड़ तक पहुँच

गई। 2013 तक यह संख्या 10 करोड़ हो जाने की संभावना है। यही संख्या 2025 में 17.30 करोड़ के पार चली जाएगी, तो 2030 तक यह संख्या 20 करोड़ तक पहुँच सकती है।

वार्द्धक्य अवस्था में मानसिक-शारीरिक क्षमता क्षीण होती चली जाती है। वार्द्धक्य जीवन की कोई पूर्व निर्धारित योजना न हो तो निष्क्रिय जीवन-यापन के कारण वृद्धों में चिड़चिड़ापन आदि का आ जाना अत्यंत स्वाभाविक होता है। बढ़ती उम्र के साथ वृद्धों में अवसाद, स्मृति दोष, भ्रम, स्क्रिजोफ्रेनिया, शंकाएँ जैसी नाना प्रकार की व्याधियों का प्रवेश शुरू हो जाता है। इसके अलावा पार्किंसन रोग (कंपवात), अल्जाइमर्स डिजिज (स्मृतिलोप), आर्थोराइटिस, प्रोस्टेटाइटिस, पक्षाघात आदि रोग भी बुढ़ापे में व्यक्ति को अपाहिज बना देता है। शारीरिक स्वास्थ्य खराब होने के साथ ही जब घर में उनकी उपेक्षा होने लगती है, तो वृद्ध को लगता है कि उनका आत्मसम्मान छिनता जा रहा है। वे कुंठित होने लगते हैं। संततियों पर उनकी निर्भरता बढ़ती चली जाती है। वे अपने को नितांत अकेला महसूस करने लगते हैं। जीवन के इसी मोड़ पर उन्हें अपने परिजनों से सबसे अधिक प्रेम, सम्मान और सहानुभूति की अपेक्षा रहती है। प्रेम, सम्मान एवं सहानुभूति के अभाव में वे टूटने लगते हैं। इससे उनका शारीरिक-मानसिक क्षय तो होता ही है, समाज भी उनके अनुभव, ऊर्जा और क्षमता के लाभ से वंचित हो जाता है। फिर जिस समाज में बूढ़ों का सम्मान न हो, तो उसके क्षय को रोका भी नहीं जा सकता। हालाँकि भारत सरकार ने माता-पिता और अभिभावकों की देख-रेख करने के लिए संतानों को कानूनन बाध्य करने संबंधी विधेयक 'माता-पिता एवं वरिष्ठ नागरिक देख-रेख एवं कल्याण विधेयक, 2007' को 5 दिसंबर, 2007 ई. को लोकसभा तथा 6 दिसंबर, 2007 ई. को राज्यसभा में पारित करवा लिया है।

1 अगस्त, 2008 से लागू इस विधेयक में प्रावधान है कि बच्चे एवं रिश्तेदार अनिवार्यतः अपने पालकों, बुजुर्ग रिश्तेदारों की देखभाल अच्छी तरह करें। सरकार ने वृद्धों की देखभाल सुनिश्चित करने के लिए कानून बनाकर देश के कल्याणकारी राज्य होने का प्रमाण दिया है, लेकिन क्या इतने मात्र से भारतीय परिवारों में बूढ़ों का सम्मानजनक जीवन बहाल किया जा सकता है? पहले भी भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता के तहत माता-पिता या वृद्धजन अपने देखभाल खर्च के लिए दावा कर सकते थे, लेकिन प्रक्रिया लंबी एवं खर्चीली होने के कारण पीड़ितों को उसका लाभ नहीं के बराबर मिल पाता था। ठीक है कि भारतीय संविधान में व्यक्ति की सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान नहीं है, लेकिन राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों की धारा 38(1), 39 (ई. एफ.) और धारा-41 में राज्य सरकारों का कर्तव्य माना गया है कि वे अपने नागरिकों की आजीविका का प्रबंध करें, बेरोजगारी दूर करें, उनके स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का

निराकरण करें, आदि। हालाँकि नए कानून की व्यवस्था के अनुसार अब हर जिले में वृद्धों की मदद के लिए एक प्राधिकरण होगा, जो बुजुर्गों के साथ ज्यादाती के मामले में स्वयं संज्ञान लेकर कार्रवाई कर सकेगा। वारिस की परिभाषा में बच्चों, पोते-पोतियों के अलावा उन सभी को रखा गया है, जो उस व्यक्ति की संपत्ति के उत्तराधिकारी होंगे। बुजुर्गों को अधिकार दिया गया है कि प्राधिकरण की मदद से वारिसों को अपनी संपत्ति के अधिकार से वंचित कर सकते हैं या उससे संपत्ति वापस प्राप्त कर सकते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को दीवानी अदालतों से अलग रखा गया है। 60 वर्ष या उससे अधिक आयु का व्यक्ति प्राधिकरणों में दरखास्त दे सकता है। वृद्ध माता-पिता की सेवा नहीं करनेवाले बच्चों को अब तीन माह तक जेल जाना पड़ सकता है। ऐसी सजा के खिलाफ अपील भी नहीं की जा सकेगी। व्यावहारिक दृष्टि से इस कानून को वृद्धों के पक्ष में खड़ा किया गया है, ताकि वे अपने स्वाभिमान की रक्षा कर सकें।

कानून के प्रावधान अपनी जगह, समाज में वृद्धजन की प्रतिष्ठा एवं देखभाल की व्यावहारिक स्थितियाँ मान्य परंपरा और मूल्यों के अनुसरण से प्रवाहित होती हैं। लोग अपने सामाजिक-नैतिक दायित्व का निर्वाह कानून से नहीं, परंपराओं, मूल्यों से निर्देशित होकर करते हैं। कानून सिद्धांततः सभ्य समाज पर प्रतीक भर है। परंपरा और मूल्य व्यावहारिक दृष्टि से किसी समाज को सभ्य बनाते हैं। बीते दो दशकों से विश्व पूँजी साम्राज्य ने जिस तेजी से मूल्यों-परंपराओं को निस्तेज करना आरंभ किया, उसका वीभत्स परिणाम अब हमारे सामने आना शुरू हो गया है। परिवार तो छोटा-से-छोटा होता ही गया, उसके बीच से परस्पर प्रेम का भी लोप होता चला गया। परिवार में अब सब कुछ कर्तव्य मानकर किया जाता है, जैसे दफ्तरों में फाइल निस्पादित किए जाते हैं। रिश्तों के बीच शील, लज्जा, संकोच जैसे आभूषण अब निरर्थक हो गए हैं। परिवार के सदस्यों में सम्मान का दिखावा है, पर मान का अभिमान नहीं! मान न हो, तो प्रेम कैसे फलेगा और प्रेम न फले तो फिर रिश्तों का क्या मतलब?

अभी पिछले हफ्ते मैं दिल्ली के जिस परिवार में ठहरा था, वहाँ एक वृद्ध ने मुझसे कहा 'बच्चे मेरी कहाँ सुनते हैं, सब अपने मन की करते हैं।' अब बूढ़े बोलते हैं तो नई पीढ़ी के बच्चे सुनते नहीं हैं। सुनते भी हैं तो मन-ही-मन सोचते हैं कि किससे पाला पड़ा है... इतने पिछड़े सोच के बाबा को मेरे ही घर होना था। पीढ़ियों में अंतराल बढ़ता जा रहा है। खानपान, वेशभूषा से लेकर सोच-विचार तक। एक दिन मैं अपने अपार्टमेंट में पड़ोसी के घर चाय पी रहा था। मेरे साथ पड़ोस के ही एक वृद्ध भी बैठे थे। उस घर में दसवीं कक्षा का एक छात्र था। वह हमारे पास से गुजरने लगा तो वृद्ध ने उसे स्नेह से अपने पास बिठाते हुए पूछा 'लगता है अभी सोकर उठे हो... रात सोते कब हो?' लड़के ने बेधड़क कहा 'रात दो बजे तक पढ़ता हूँ, इसलिए सुबह दस से पहले उठ नहीं पाता।' वृद्ध ने उसे पुचकारते हुए सलाह दी 'यह ठीक

नहीं। रात दस बजे तक सो जाना चाहिए और सुबह पाँच बजे तक जरूर उठ जाना चाहिए।' लड़का उसी दिन से उस वृद्ध का शत्रु हो गया। जब कभी उन्हें देखता, हिकारत से रास्ता बदल मुँह बना लेता। रिटायर और बूढ़े लोग घरों में बहू-बेटे, पोते-पोतियों से तारतम्य नहीं बिठा पा रहे। दोनों की दिनचर्या में जमीन-आसमान का अंतर आ गया है और दोनों ही अपनी-अपनी तरह से जीने-सोचने की अपेक्षा दूसरों से करते हैं। हालाँकि ऐसे भी परिवार हैं, जहाँ बूढ़ों का सम्मान होता है। मेरे एक करीब के रिश्तेदार हैं। डॉक्टर थे। सिविल सर्जन होकर रिटायर हुए। रिटायरमेंट के बाद गृह जिले में अलग मकान बनवाकर रहने लगे। शहर से लगे गाँव में दस एकड़ जमीन खरीद ली। किसानी कर रहे हैं। रिटायर हुए बारह वर्ष हो गए। खूब तंतुरुस्त हैं। परिवार और शहर में उनकी काफी प्रतिष्ठा है। बुढ़ापा-जीवन की पूर्व योजना उनके काम आई। पटना में मेरे एक कथाकार मित्र का परिवार अब भी संयुक्त है। परिवार में पचहत्तर पार उनके माता-पिता का काफी सम्मान है। वे पाँचों भाई अलग-अलग जगहों में काम करते हैं, पर उनका पूरा परिवार एक छत के नीचे सुखमय जीवन व्यतीत करता है। बूढ़ों की तकलीफें एकल परिवारों में अधिक देखी जाती हैं।

भारतीय परिवारों की जीवन-शैली बीते दो दशकों में उत्तर-आधुनिक-सी हो गई है, जबकि परंपरा और मूल्यों में कोई विशेष बदलाव नहीं आया है। वह पूर्ववत है। पूरब पश्चिम की नकल में व्यस्त है, जबकि पश्चिम पूरब को अब अपना आदर्श मानने लगा है। एक संतुलित परिवर्तनकारी दौर से भारतीय समाज गुजर रहा है, जिसमें बूढ़ों पर भारी विपत्ति है। हेल्प एज इंडिया के एक अध्ययन के अनुसार फिलवक्त भारत में 60 वर्ष की उम्र के बाद अपने बच्चों से अलग रहने वाले लोगों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, जो अभी एक-चौथाई है। 2025 तक यह संख्या 50 फीसदी तक हो जाएगी। दिल्ली, मुंबई जैसे महानगरों में असामाजिक तत्त्व ऐसे ही असुरक्षित लोगों को अपना निशाना बनाते हैं। वैसे लोगों के साथ हिंसा के ज्यादातर मामले सामने आते हैं, जिनके पास संपत्ति तो है, पर उसे देखने वाला कोई नहीं, क्योंकि बच्चे विदेश में सेटल कर चुके होते हैं। हर आठ में एक वृद्ध महसूस करता है कि उसकी चिंता करने वाला कोई नहीं है। लगभग 13 प्रतिशत वृद्धों को लगता है कि उन्हें अपने ही घर में बंधक बनाकर रखा जा रहा है। जहाँ न कोई आजादी है, न अपने मन से कुछ कर सकते हैं और न ही कोई पूछनेवाला है। घर के किसी कोने में रहने की जगह और सुबह-शाम खाने को मिल जाता है। बस, इससे ज्यादा कोई वास्ता घरवाले उनसे नहीं रखते हैं। ऐसे वृद्ध माँ-बाप पर क्या बीतती है, इसका अनुमान सेंसेक्स की उछाल और अरबपतियों की बढ़ती संख्या से नहीं लगाया जा सकता!

पूँजी का विस्तार अपना काम कर रहा है और तात्कालिक भौतिक समृद्धियों की कौंध में चौंधियाये हम भारतीय परंपरा और मूल्यों से दूर होते जा रहे हैं। जीवन की

सार्थकता भोग में नहीं, प्रेम में है। प्रेम परिवार में पलता है। परिवार बुजुर्गों के सम्मान से शोभा पाता है। बुजुर्ग उपेक्षित-तिरस्कृत हो रहे हैं। इन बेमेल रिश्तों को ठीक करना होगा, जो केवल कानून से नहीं हो सकता। हमारे बुद्धिजीवियों-रचनाकारों को इस दिशा में चिंतन-लेखन करना होगा। भारतीय परिवारों की जड़ें वृद्धों के खाद-पानी से सिंचित होती हैं। हमारी जड़ें कमजोर हो रही हैं, टूटी नहीं हैं। इन जड़ों को मजबूत करना होगा अन्यथा जड़ों से उखड़े समाज को किन अभिशापों से गुजरना होता है, उसकी कल्पना मात्र से ही सिहरन होती है। क्या हम पूँजी बाजार के संसाधन अथवा उपभोक्ता मात्र बनकर संवेदनशून्य-जड़विहीन समाज में रहने के लिए ही अनियंत्रित भौतिक समृद्धियों के दास बनते चले जाएँगे, जिसका षड्यंत्र विश्व पूँजी बाजार रच रहा है! हमारे रचनाकारों को इस अनियंत्रित पूँजी प्रसार का प्रतिरोध करना होगा, तभी एक सभ्य-संवेदनशील समाज के निर्माण में उसका हस्तक्षेप माना जाएगा।

ललित निबंध

ज्ञान

शंकर पुणतांबेकर*

आओ, ज्ञान की बात करें।

वैसे ज्ञान की बात करना कठिन है। पवन की तरह मैं ज्ञान को अनुभव तो करता हूँ, पर उसके बारे में कुछ बता नहीं सकता। स्थूल रूप से यही कह सकता हूँ कि विश्व के बारे में जानना ही ज्ञान है यह आकाश है, यह धरती है, यह पर्वत है, नदी है, आग है, पवन है, आदि-आदि।

पर स्थूल भूगोल ज्ञान हो, तथापि भूगोल का ज्ञान नहीं है। हम सत्य, अहिंसा, प्रामाणिकता, न्याय, करुणा की भी बात करते हैं, जो स्थूल नहीं हैं, सूक्ष्म हैं ये भी ज्ञान के अंतर्गत आते हैं।

इस तरह ज्ञान जहाँ साकार है, वहाँ निराकार भी है। बिलकुल ईश्वर की तरह।

ज्ञानी कहते हैं ज्ञान तो साक्षात् ईश्वर है और इन ज्ञानियों को विज्ञानी अज्ञानी कहते हैं।

हाँ, ज्ञान की एक जात विज्ञान की भी है, जो स्थूल भूगोल की बात करता है। स्थूल भूगोल की, सो इसके यहाँ सूक्ष्म सत्य, अहिंसा, न्याय, करुणा आदि की बात नहीं होती और इसीलिए ईश्वर की भी; क्योंकि सत्य, अहिंसा, करुणा आदि का ही मिला-जुला नाम ईश्वर है।

विकास में ज्ञान के साथ ट्रेजिडी यह हुई है कि वह एक ओर विज्ञान और शास्त्र में टेल दिया गया, जो स्थूल था, तो दूसरी ओर धर्म और दर्शन में बैठा दिया गया जो सूक्ष्म था। ट्रेजिडी इस मायने में कि विज्ञान और शास्त्र को दूसरी ओर के धर्म और दर्शन से कोई मतलब नहीं; तो धर्म और दर्शन को पहली ओर के विज्ञान और शास्त्र से कोई मतलब नहीं।

*प्रख्यात ललित निबंधकार; संपर्क : मायादेवी नगर, जलगाँव-2, 425002; मो. 09403159031

स्वयं विज्ञान और शास्त्र में यह अंतर रहा कि शास्त्र के साथ मनुष्य जुड़ा। यथा अर्थशास्त्र में, राजनीतिशास्त्र में। इस शास्त्र की प्रयोगशाला भी आउटडोर रही। इसके विपरीत विज्ञान अपनी इनडोर प्रयोगशाला के बाहर ही नहीं आया, इसलिए कि इसके केंद्र में मनुष्य नहीं था।

मैं एटम की बात नहीं करता, सामान्य माचिस को लेता हूँ। विज्ञान ने माचिस तो बना दी, पर उसे उसके इस्तेमाल से कुछ लेना-देना नहीं कि आप इससे दीया जलाते हैं, चूल्हा जलाते हैं अथवा झोंपड़ी जलाते हैं, आदमी जलाते हैं। विज्ञान जैसे निरपेक्ष क्रिया है।

वैसे ज्ञान भी निरपेक्ष क्रिया बन जाता है, जब उसके केंद्र में ईश्वर हो। यह ज्ञान का चरम उदात्त बिंदु है, जिसमें सत्य, न्याय, करुणा वर्षा की भाँति सबके लिए बरसने लगते हैं, सूरज की भाँति सबको प्रकाशित करते हैं।

पर इस ज्ञान को अध्यात्म की संज्ञा दी गई, जिसकी भौतिक जगत ने कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की और इसके ज्ञाता को संत की उपाधि देकर उसे अपने से अलग ही रखा।

संत को हमने आदरणीय तो माना, पर आचरणीय नहीं। हमने संत और ईश्वर दोनों को एक साथ मंदिर की कारा में बंद कर दिया। उन निरपेक्ष को जो सत्य, न्याय, करुणा थे।

इसके विपरीत विज्ञान हमारे लिए आचरणीय बन गया। वह भौतिक जगत की चीज जो था; स्वतंत्र चीज; इसकी माचिस से हम जहाँ अपनी सिगरेट जला सकते हैं, वहाँ दूसरों की झोंपड़ी भी। ईश्वर के साथ ऐसा नहीं है। माचिस की तरह ईश्वर यदि हमारी जेब में हो तो दूसरों की झोंपड़ी तो क्या, अपनी सिगरेट जलाने पर भी बंधन आ जाते हैं।

ज्ञान इस तरह दो अलग हिस्सों में बँट गया। एक संतोंवाला और दूसरा इसे में असंतोंवाला नहीं कहूँगा, कहूँगा विद्वानोंवाला। एक वह जो आदरणीय पर आचरणीय नहीं, दूसरा वह जो आचरणीय पर आदरणीय नहीं। एक पुरातनपंथी तो दूसरा पूरा तनपंथी।

मनुष्य ने जमीन, पहाड़, नदी को तो जाना जो स्थूल थे; पर सत्य, करुणा, न्याय को कैसे जाना जो सूक्ष्म थे? जमीन, पहाड़ की प्रकृति को तो उसने सत्य कह दिया सहजता से, किंतु उसमें समाविष्ट करुणा और न्याय को देखने के लिए अवश्य ही मनुष्य में विशेष दृष्टि रही होगी।

मनुष्य को यह विशेष दृष्टि पाने के लिए, कहना होगा, अनेक वर्ष लगे होंगे। और ज्ञान क्या यह विशेष दृष्टि ही नहीं है? तभी, यह पत्थर है, यह आग है, जानना ही तो ज्ञान नहीं।

प्रकृति सुंदर और कुरूप थी। मनुष्य स्वभावतः सुंदर से आकर्षित हुआ और उसे सँजोने के लिए क्रियाशील। इस क्रियाशीलता में मनुष्य की जन्मजात बुद्धि का हाथ था। जिसे हम ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह बुद्धि की क्रियाशीलता का निष्कर्ष ही है।

आगे प्रकृति के सुंदर-कुरूप उसके बाह्यांग से नहीं रहे, मनुष्य के स्वार्थ से बने। मनुष्य के स्वार्थ में जब समाज समा जाता है तो वह स्वार्थ शिव बन जाता है। वैसे समाज अपने-आप में शिवरूप है। व्यक्ति अपने स्वार्थ के अनुरूप सुंदर अथवा सत्य होता है। एक का रास्ता धन में से है तो दूसरे का ज्ञान में से। व्यक्ति जीवन में सुंदर और सत्य नित्य टकराते हैं और कहना न होगा कि मनुष्य सुंदर का साथ देता है। दुःख की बात है कि मनुष्य का सुंदर प्रकृति के सुंदर से मेल नहीं खाता। यह तब मेल खाता है, जब अपने ही सत्य से टकराता नहीं है।

यह इसलिए कि प्रकृति अपने-आप में सत्य, शिव, सुंदर है। प्रकृति का कुरूप भी सुंदर है। कुरूप एक सूरत में तब सुंदर है, जब मनुष्य का उससे स्वार्थ पूरा हो और एक सूरत में तब सुंदर, जब वह उसके अंतरंग को समझता है।

अंतरंग को समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान सत्य है।

प्रकृति का सुंदर-कुरूप, इसी तरह मनुष्य के जीवन का सुंदर-कुरूप।

अधिकांशतः होता यह है कि कुरूप जीवन से हम दूर भागते हैं और सुंदर जीवन से भरमा जाते हैं। प्रकृति के सुंदर या कुरूप के अंतरंग में तो हम तटस्थता से देख सकते हैं, किंतु जीवन के सुंदर-कुरूप को नहीं देख पाते। और यह कार्य कवि या कलाकार ही कर पाता है। यह इसलिए कि कवि या कलाकार सुंदर से भरमा नहीं जाता, कुरूप से मुँह नहीं फेर लेता।

कवि या कलाकार को हम भावुक कहते हैं। भावुक तो सामान्य आदमी भी होता है। किंतु सामान्य आदमी की भावुकता हृदय को ही झनझनाकर रह जाती है, जबकि कवि या कलाकार की भावुकता मस्तिष्क को भी झनझनाती है। मस्तिष्क हृदय की झनझनाहट को जिसे अनुभूति कहते हैं विंबित करता है, उपयुक्त भाषा देता है, व्यापक बनाता है सर्वमान्य। और मस्तिष्क हम सभी जानते हैं ज्ञान का केंद्रस्थल है।

आँखें जितनी खुली हुई, मस्तिष्क उतना ही संपन्न।

बुद्धि की क्रियाशीलता से ज्ञान, किंतु स्वयं ज्ञान की क्रियाशीलता से हम जो पाते हैं, उसे विचार कहते हैं। ज्ञान अपने-आप में उपलब्धि नहीं है, भले ही वह अपने में सत्य हो या ईश्वर। ज्ञान तो पॉवर हाउस की तरह है, ज्ञान ही क्या सत्य और ईश्वर भी; जिसके विस्तार से ही हमें रोशनी, गति, शक्ति मिलती है। और ज्ञान का विस्तार विचार में से होता है।

इस विचार ने ही एक ओर भौतिक क्षेत्र में नाना शास्त्रों को जन्म दिया और कालानुरूप विकसित किया तो दूसरी ओर कला और अध्यात्म के क्षेत्रों में विभिन्न वादों को, पंथों को।

हम परंपरा को कितना ही बुरा कहें, पुरातनपंथी कहकर उसे नीचा दिखाएँ, किंतु परंपरा ही ज्ञान के पाँवर हाउस का ईंधन होती है। पुराण, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला आदि इस परंपरा के अंतर्गत आते हैं। इस मायने में परंपरा और ज्ञान में कार्य-कारण भाव हैं। इसीलिए जिस देश की परंपरा जितनी सशक्त होगी, उसका समाज उतना ही ज्ञान-संपन्न-रोशनी, गति, शक्ति से भरा-पूरा होगा।

विचार-विचार टकराते हैं। इसे हम वाद कहते हैं।

टकराहट, फिर वह वाद के रूप में हो, प्रतिस्पर्धा के रूप में हो, संघर्ष के रूप में हो या युद्ध के रूप में, मनुष्य को नया ज्ञान दे जाती है। परास्त हो जाते हैं तो हमारी कमजोरी या अधूरेपन का अहसास कराती है। पराजय हमें नए अनुसंधान और खोज की ओर अग्रसर करती है।

विचार की बुनियाद में अवश्य ही कहीं कुछ प्रतिबद्धता होती है। और वाद प्रतिबद्धताओं में ही होता है।

प्रतिबद्धता एक ओर जहाँ उत्तरदायित्व और उससे जुड़े संयम का संकेत देती है, वहाँ विचार स्वातंत्र्य का भी। मैं यहाँ किसी मेड इन एक्स वाई जेड वाली प्रतिबद्धता की बात नहीं कर रहा हूँ। यह सेल्फ इंपोज्ड वाली प्रतिबद्धता है, जो डिक्टेड के अंकुश के लिए डिक्टेड नहीं होती।

वाद वास्तव में शांतिकाल का युद्ध है। इसमें शस्त्र नहीं होते। किंतु यह स्वयं जब शस्त्र बनता है तो युद्ध की ही भाँति खतरनाक सिद्ध होता है। पर यह तब होता है, जब वाद का विचार पंथ बन जाता है।

खुला अथवा स्वतंत्र समाज बैंक की भाँति होता है। बैंक हमारे आचार-विचार का। बैंक में हमारी जैसी राशि जमा होती है, उसी के अनुरूप वह हमें ब्याज देता है अथवा हमारी कूवत के अनुरूप कर्ज। तात्पर्य बैंक के लेन-देन में न बैंक की ओर से हम पर अथवा न हमारी ओर से बैंक पर कोई जोर-जबरदस्ती होती है।

अन्नसत्र की भाँति विचारसत्र नहीं होने चाहिए। हाँ, ज्ञानसत्र हो सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है व्यक्ति अपने स्वार्थ के अनुरूप सुंदर अथवा सत्य होता है। हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने स्वार्थ और रुचि के अनुरूप विचार ग्रहण करता है। और विचार उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। हम अर्थात् खुला समाज उम्मीद यह करता है कि मनुष्य के विचार में पर्याय से आचार में सत्य हो-न-हो सुंदर अवश्य होना चाहिए। जिसे हम संस्कृति कहते हैं, वह विचार-आचार की सुंदरता ही है।

विचार का पाँवर हाउस है ज्ञान। ज्ञान में यदि संस्कृति होगी तो वह विचार में आएगी, अंततः आचार में, कला-साहित्य में; साथ ही भौतिक वर्ग के वाणिज्य, राजनीति जैसे शास्त्रों में भी। ज्ञान के सूक्ष्म पक्ष में अहिंसा, करुणा, न्याय आदि के

रूप में क्या संस्कृति ही नहीं होती? ज्ञान के इस रूप में मनुष्य का स्वार्थ स्व तक सीमित नहीं रह जाता और स्व का सुंदर शिव में परिणत होने लगता है।

बुद्धि की क्रियाशीलता ज्ञान शिवरूप ज्ञान, ज्ञान की क्रियाशीलता विचार... सुंदररूप विचार, तो विचार की क्रियाशीलता चिंतन सत्यरूप चिंतन। शिवरूप ज्ञान समाज से जुड़ा, सुंदररूप विचार व्यक्ति से जुड़ा तो सत्यरूप चिंतन किससे जुड़ा? यह जुड़ा है विश्व से।

आओ, अब ज्ञान के इस चिंतन रूप को देखें।

प्रकृति के विराट् ने मनुष्य को चैन से नहीं बैठने दिया। वह जहाँ आकर्षक थी वहाँ भयानक भी। ज्वालामुखी, भूकंप, तूफान, बाढ़, हिंस्रप्राणी आदि में भयानक।

चिंतन में से मनुष्य ने अनुभव किया कि मनुष्य भी प्रकृति की भाँति भयानक है उसमें ज्वालामुखी, भूकंप हैं तो हिंस्रप्राणी भी। एक ओर मनुष्य की ज्ञानबुद्धि अपने हित में प्रकृति की शक्ति को बटोरने का तथा उसका भयानक पर नियंत्रण पाने का काम करती है, तो दूसरी ओर उसकी चिंतन बुद्धि विश्व के हित में मनुष्य की शक्ति को जानने और उसके भयानक पर नियंत्रण पाने का काम करती है।

ज्ञान बाहर देखने की कृति है तो चिंतन अंदर झाँकने की मनुष्य के अंदर झाँकने की। वैसे प्रकृति का सूक्ष्म भी चिंतन का विषय है। पर अंतर्चक्षु वाले का। और अंतर्चक्षु तो अंदर झाँकने पर ही प्राप्त होते हैं।

ज्ञान सूरज की भाँति होता है, चिंतन में इसकी विचार-किरणें सभी दिशाओं में फूट पड़ती हैं। तभी तो मैंने कहा कि चिंतन विश्व से जुड़ा है। सामान्यतः हमारा ज्ञान, स्कूल-कॉलेज से प्राप्त ज्ञान फोकस रूप में होता है, जो एक ही विषय को प्रकाशित करता है। फिर वह बाह्य विषय का ही फोकस है। किंतु चिंतन के साथ ऐसा नहीं है। यह शरीर की भूख-प्यास नहीं उसके स्पंदन से जुड़ा हुआ है। स्पंदन मनुष्य के काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ-ईर्ष्या की प्रतिक्रिया है। कहेँ कि मनुष्य का जीवन है।

यह स्पंदन नहीं तो विश्व के क्रियाकलाप ही नहीं।

काम-क्रोध आदि जैसे रंग हैं। मनुष्य जिंदगी क्या जीता है, जैसे इन छह रंगों का चित्र ही काढ़ता है। कहीं गाढ़े कहीं फीके। कहीं कोई रंग अधिक तो कोई कम। कहीं बेढब तो कहीं आकर्षक। कहीं अर्थपूर्ण तो कहीं निरर्थक। कहीं फलक छोटे तो कहीं अनावश्यक रूप में बड़े। कोई चित्र गलत स्थान पर तो कोई स्थान के लिए रोता हुआ।

धर्म ने तो काम-क्रोध आदि को षड्रिपु कहा। मनुष्य जैसे अपने मूल रूप में जानवर है, काम-क्रोध भी अपने मूल रूप में रिपु ही हैं। धर्म षड्रिपु के दमन की बात करता है। चिंतक इन्हें प्रकृति के वायु, अग्नि, जल आदि पाँच तत्वों की भाँति हारनेस करने की। चिंतन एक ओर धर्म के एक्स्ट्रीम को नहीं जाता तो दूसरी ओर विज्ञान के एक्स्ट्रीम को।

धर्म का सत्य ईश्वर पर विराम पा जाता है, तो विज्ञान के सत्य में भयानकता भी है। किंतु इन दोनों के विपरीत चिंतन के सत्य में समानता, करुणा, न्याय देखने की दृष्टि है। कभी यही दृष्टि धर्म की थी, किंतु धर्म विभिन्न ईश्वरों के कारण अपने लक्ष्य से भटक गया। वह उदात्त की राह नहीं रहा, सीमित का पंथ बन गया।

चिंतन का यह सत्य कला-साहित्य में प्रतिबिंबित होता है। साधु पुरुषों के आचरण में, शोषितों की वाणी में।

मैं बीच-बीच में विदिशा जाता रहता हूँ, जहाँ मेरी आरंभिक शिक्षा हुई और नौकरी के पहले तेरह वर्ष बीते।

जब भी विदिशा जाता हूँ, तो वहाँ की नदी बेतवा के महल घाट जाकर अवश्य दर्शन लेता हूँ। बेतवा से बचपन की अनेक यादें जुड़ी हैं, सो घाट पर बैठ मैं जैसे बचपन में लौट जाता हूँ। शाम के एकांत में।

यह एकांत कभी-कभी विदिशा के बाद की जिंदगी में भी ले जाता है। ऐसे कि यह मेरा गुरु भी है और दोस्त भी। कभी मैं इसके पीछे-पीछे चल रहा हूँ साथ में। हम चल रहे होते हैं और बात करते हैं। वही अधिक बोलता है। मैं तो बस बीच-बीच में कोई सवाल कर लेता हूँ। यह एकांत केलिडोस्कोप की भाँति दोस्त गवाँदे, दामोदर युक्त होता, अध्यापक सुरेंद्रनाथ, प्रो. गोडबोले युक्त होता, किसी ऊँचे वक्ता से युक्त, जिसके भाषण को मैंने तन्मयता से सुना था और होता यहाँ कोई अजनबी-देर सारी पढ़ी हुई पुस्तकों का सम्मिलित रूप। एक शाम को महल घाट के इस एकांत ने मुझे दुनिया-भर में घुमाते हुए जो कुछ कहा, वही मैंने ऊपर दिया है। उसने और भी बहुत कुछ बताया, जो वर्तमान ज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

आज ज्ञान नदी, तालाब अथवा कुएँ से प्राप्त पानी की तरह नहीं है। इन साधनों से पानी पाने के लिए जो कष्ट करने होते हैं, वे अब पानी नल से प्राप्त हो जाने के कारण करने नहीं पड़ते। ज्ञान भी गाइडों, ट्यूशनों, कोचिंग क्लासों आदि के नल से सहज प्राप्त हो जाता है।

पानी के मामले में नल कितनी बड़ी उपलब्धि, किंतु गाइडों-ट्यूशनों की उपलब्धि ज्ञान के मामले में उतनी ही निंदनीय गिरावट। यह मस्तिष्क को पंगु बनाती है, साथ ही श्रमविहीन शॉर्टकट की संस्कृति को बढ़ावा देती है। नदी-तालाब-कुएँ में हम अपना प्रतिबिंब देख सकते हैं, नल के साथ यह संभव नहीं।

वह भी क्या ज्ञान, जिसमें हम अपने को नहीं देख सकते हैं।

आज ज्ञान ड्राइंगरूम की ज्ञान बन गया है, वह ज्ञान जो कभी आँगन-स्वरूप था।

आँगन कैसा खुला होता है और ऊपर इसके आकाश विराजता है। यहाँ धूप-पानी-शीत सभी रहता है। छोटे-बड़े सभी के लिए समान। यहाँ जहाँ फूल खिलते हैं, वहाँ चाँदनी भी अटखेलियाँ करती है।

ज्ञान जब कमरे में बंद है, दर्शनी और औपचारिक कमरे में, तो आँगन की पवित्र तुलसी को यहाँ स्थान नहीं, चाँदनी को नहीं, समानता को नहीं। अब तो एयर कंडिशनिंग भी चल पड़ा है, सो यहाँ बाहर के बेमौसम का कोई असर नहीं। मजे से हँसते-गाते रहो।

वह भी क्या ज्ञान, जो दुनिया के सुख-दुःख से अलिप्त रहे।

आज ज्ञान रेस का घोड़ा बन गया है, वह ज्ञान जो कभी सवारी या ताँगे का घोड़ा था।

रेस का घोड़ा कितना ऊँचा। ऊँची परवरिशवाला ऊँचे दाववाला ऊँचा सो सामान्य आदमी से कोई वास्ता नहीं। लाखों के वारे-न्यारे करनेवाला, तथापि लक्ष्यहीन।

जो घोड़ा आदमी को ढोता है अकेले या ताँगे में, देश के लिए लड़ता है सेना में वह रेस के इस घोड़े के मुकाबले बिलकुल ही नगण्य। चार-चार को ढोनेवाला ताँगे का घोड़ा तो भूखों भी मरता है और चाबुक भी वह नित्य ही खाता रहता है। भूख और चाबुक उसका नसीब ही है।

रेस का घोड़ा इतना ऊँचा, पर वह अपने लिए नहीं गधों के लिए दौड़ता है। दायरे में दौड़ता है।

वह भी क्या ज्ञान जो ऊँचा तो है पर सीमाबद्ध हो।

जब मैं घाट से उठने का हुआ तो अंत में एकांत ने कहा, ऐसे के विपरीत ज्ञान भविष्य में भी बना रहता है, और विचित्र बात कि उसका भविष्य नहीं होता। ज्ञान के उत्थान से ही सत्य, शिव, सुंदर हैं और पतन से तर्क-कुतर्क। ज्ञान जब श्रद्धारहित बन ऐसे की ओर दौड़ता है, तो दुनिया के विनाश का कारण बनता है। आज भी यही हो रहा है। हाँ, विनाश का दोषी पैसा नहीं ज्ञान है।

उस शाम मैं जब घर लौटा तो मेरे सामने प्रकाश में भी अँधेरा-ही-अँधेरा था।

प्रागरामायण घटनाक्रम, रामायण एवं वानर महाजाति

राजीव रंजन उपाध्याय*

महर्षि कश्यप की स्मृति का प्रतीक कैस्पियन सागर जो ईरानी एवं रूसी अजरबाईजन क्षेत्र से लेकर रूस, तुर्कमानिस्तान तथा कजाकिस्तान तक व्याप्त है, यह वही क्षेत्र है जो पृथ्वी के तापक्रम के 14700 वर्ष एवं पुनः 11500 वर्ष पूर्व बढ़ जाने के फलस्वरूप प्रलयंकर वर्षा के कारण तथा हिम मंडित क्षेत्रों के हिम के पिघल जाने के प्रभाव से मध्य एशिया से लेकर मिस्र तक (इजिप्ट) आदि देशों तक पुराणोक्त जल प्लावन का दर्शक रहा है। यह जल प्लावन चालीस वर्षों तक प्रभावी रहा है।¹

कालांतर में वर्षा के वेग के मंद होने तथा वायु की प्रचंडता की न्यूनता ने तापक्रम में वृद्धि कर दी। परिणामस्वरूप कृष्ण सागर से लेकर कश्यप सागर के मध्य की भूमि स्वर्ग के भाँति रमणीक हो गई।²

पुराकाल के ताप वृद्धि और उसके दाहक प्रभाव की स्मृति महाभारत में इस प्रकार वर्णित है “युगांत मारुतेनेव शोषित मकरालयं” (शल्य पर्व 66/6) तथा वायु पुराण भी इसकी चर्चा करते हुए कहता है। “नर्दिग्धेषु च लोकेषु तेषु सूर्योत्तु सप्तभिः” (7/45-46)^{2क}

पुराकाल में कृषि-कर्म के प्रारंभ के पूर्व पृथ्वी भूमि अकृष्टपच्या थी। अन्न उत्पन्न हो जाते थे, गोपालन नहीं होता था, जंगल से उत्पन्न फल अन्नादि तथा गायों का दुग्ध दूह लिया जाता था। जन समुदाय भूमि की उपज से काम चला लेता था

न सस्यानि न गोरक्षा, न कृषिन वाणिक पथः।

चाक्षुषस्यांतरे पूर्वमेतदासीत् पुर किल।

वायु पुराण 61/172

कालांतर में भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाने लगी फलस्वरूप धरा को हल कर्षित करना पड़ा। इसी तथ्य का संकेत ऋग्वेद के मंत्र “कृषिमित्कृषस्य” (ऋग्वेद

*पूर्व प्रोफेसर, कैंसर शोध, तबरीज, विश्वविद्यालय, तबरीज ईरान, ‘विज्ञान’ परिसर, कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.)

10/34/13) से मिलता है। महाभारत में भी लिखा है कि पूर्व युग में पृथुवैन्य के काल में पृथ्वी अकृष्टपच्या और कामधुक थी। (द्रोणपर्व 69/4, षोडश राजोपाख्यान)।²

कैस्पियन सागर क्षेत्र के विषय में यूनानी भूगोलवेत्ता स्ट्रावो का कथन है “To the country of Albanians belongs also the territory called Caspian, which was named after Caspian tribe, as well as the sea, but the tribe has now disappeared” वह कैस्पियन शब्द को संस्कृत से उद्भूत मानता है।³

काकेशस क्षेत्र की उपत्यका से हमारी संस्कृति अनादिकाल से संबंधित रही है, क्योंकि यही क्षेत्र देवों, दानवों एवं असुरों की आदि क्रीड़ास्थली रही है।

यदि कभी आपको काकेशस क्षेत्र में जाने का सुअवसर प्राप्त हो तो आपको वहाँ के वासियों तथा उत्तरी भारतीयों से अंतर का पाना कठिन लगेगा। हो सकता है हमारी त्वचा सूर्य के प्रभाव के कारण भूरे रंग की हो गयी हो, पर नाक-नक्श आज भी समरूपता रखते हैं। तथ्यतः हम सभी काकेशस हैं। इस काकेशस क्षेत्र के विषय में विद्वानों में भ्रातियाँ थीं, परंतु अब आनुवंशिक अध्ययनों ने इस भ्रांति का निराकरण कर दिया है।⁵

प्रथम प्रजापति दक्ष की तीनों कन्याओं दिति, अदिति तथा दनु का विवाह महर्षि कश्यप से हुआ था। दिति से उत्पन्न दैत्य कुल निम्नवत था

प्रजापति दक्ष की प्रथम कन्या दिति से हिरण्यकशिपु¹, हिरण्याक्ष नामक पुत्र तथा सिंहिका नामक कन्या थी। सिंहिका का पति विरोचन था और इनसे राहु आदि 24 सिंहिकेय उत्पन्न हुए।

हिरण्यकशिपु की बड़ी कन्या दिव्या थी, जिसका विवाह महर्षि भृगु से हुआ था। उशना-काव्य इनके पुत्र थे।

हिरण्यकशिपु के अन्य पुत्रों में प्रह्लाद संहलाद², अनुसंहलाद (शिवि) तथा वाष्कल थे। संहलाद के पुत्र कपिल³, विरोचन⁴, कुंभ एवं निकुंभ थे।

विरोचन के दधिजीहवी⁵, बलि तथा यशोधरा नामक कन्या थी। इसका विवाह त्वष्ट्रा-त्रिशिरा विश्वरूप से हुआ था।

बलि के वंश में चंद्रमा, सूर्य, धृतराष्ट्र, वाण तथा कुशि नामक पुत्र थे।

इस वंशावली में 1-5 नाम वैदिक ग्रंथों में स्मृत हैं, शेष ऐतिहासिक हैं। इन्हीं असुरों को प्राचीन इतिहास में ‘पूर्व देव’⁶ कहा गया है तथा हेरोडोटस के अनुसार मिस्र देश के पुरोहित इन्हें प्रथम श्रेणी के देव कहते थे। इन दैत्यों तथा ज्येष्ठ देवों की संतानें कुछ समय में विश्व में फैल गईं। असुरगण अमित-प्रज्ञ थे तथा शरीर को मृत शरीर को, शव को, अन्न, वासन एवं अलंकार से बहुत संस्कृत करते थे।^{7,8}

असुरों की अमित-प्रज्ञता का प्रमाण, मेसोपोटामिया; ईराक, ईरान और मिस्र, सीरिया से प्राप्त प्राचीन प्रमाण, और पिरामिड आदि आज भी इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं।⁹

असुरों का देश असीरिया-अशूरिया-सीरिया एक विस्तृत क्षेत्र था। हेरोडोटस के अनुसार बाबेल देश इसी का भाग था, परंतु पूर्ववर्ती राजधानी निनेवाह थी। बाबेल में असुर बल (बलि) की स्मृति में एक विशाल मंदिर था। असुरों के नगर अति विशाल थे तथा बेबीलोन के निचले प्रदेश के जन-क्राल्डियन कहे जाते थे।

प्रसिद्ध इस्लामी इतिहासकार अल-मसूदी (सं. 987) के कथन का अंग्रेजी रूपांतरण इसी संदर्भ में निम्नवत है The king of China, of the Turks, of India, of Zanj and all other kings of earth, looked up to the king of elimate (किशवार) of Babal with great respect for he is the first king of the earth. The ancient king of Babal had the title of shahan shah.¹⁰

बाइबिल में विरोचन तथा बल की चर्चा है।¹⁰

ये असुरगण संस्कृत भाषा जानने थे पर उसके उच्चारण में दोष रहता था। असुरों ने यज्ञ कर्म में भी यत्र-तत्र अपभाषण करना आरंभ किया। “नेऽसुराहेलयो इति कुर्वतः पर बभुवः” (महाभाष्य पस्पशान्हिक में उद्धृत)। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार कश्यप प्रजापति का वंशज विरोचन असुर, इंद्र के साथ प्रजापति के पास स्वाध्याय हेतु गया। वह विरोचन, संस्कृत के परम विद्वान कश्यप के पास संस्कृत में ही विद्या ग्रहण करता था। महान विद्वान बृहस्पति का भाई सुधन्वा विरोचनादि के साथ पण लगा रहा था। वह ब्राह्मण का श्रेयष्ठ पूछता था। इन्हीं असुरों का एक पूर्व पुरुष त्रिशिरा विश्वरूप वेद मंत्रों का ऋषि हुआ। विरोचन का पौत्र प्रसिद्ध बाणासुर था। बाण नाम के अनुसरण पर ही उसका नाम असुर वाणी पाल नाम पड़ा। असुर राजा बहुत उत्तरकाल तक अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे।¹⁰ असुरों की भाषा के विषय में हेरोडोटस एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है

“Mylitta (मिलित्त) is the name by which the Assyrians know goddess, whom the Arabians call Al Litta and Persians Mitra.”

मि-लित्त के लित्त का आधात्त विपर्यय हुआ। यह रलयोर भेद है, जो ठीक संस्कृत मित्र का अपभ्रंश है। इस प्रकार प्राचीन असुर प्रदेशवासी वैदिक देवों से परिचित थे। इन क्षेत्रों के मंदिरों में विरोचन और बलि की पूजा होती थी।

तथ्यतः यह अब स्वीकार्य है कि अति प्राचीन ईरानी जन असुरों के निकट संबंधी महर्षि भृगु की संतानों में से थे। भृगु ने हिरण्यकशिपु की कन्या दिव्या से विवाह किया था। उससे उशना शुक्र की उत्पत्ति हुई थी। कवि, काव्य, उशना इसी के नामांतर थे। प्राचीन ईरानी ग्रंथों में “कैकोश” नाम उशना की स्मृति तथा काकेशश क्षेत्र से जुड़ा है, जहाँ पर यह वास करते रहे होंगे। यह भार्गव गण शिष्ट एवं संस्कृत भाषा के प्रकांड विद्वान थे। प्राचीन ईरानी समाज के ब्राह्मण अथर्वण कहे जाते थे, क्षत्रिय-रथेष्ट्र थे तथा व्यापारी लोग विश कहे जाते थे। समाज तीन श्रेणियों में बँटा था।

आधुनिक सीरिया में ही नहीं वरन् प्राक्-इस्लामी अरब में महादेव की पूजा ही नहीं होती थी, वरन् अरब जन वेदों और भारत भूमि का स्मरण आदर के साथ करते थे।¹¹

प्राचीन अरबी काव्य-संग्रह शायर-उल-ओकुल में लबी-बिन-ए-अख्तर-बिन-ए-तुर्फा जो मोहम्मद साहब से लगभग 2300 वर्ष पूर्व (18 शती ई. पूर्व) हुए थे, के द्वारा रचित वेदों की प्रशंसा में लिखी गई कविता (शेर) निम्नवत है

अया मुबारकेकल अरज युशैये नोहा लोहा मीनार हिंद-ए।

वा अरादकल्लाह मज्यौनेफेल जिकरतुन।।।

वहलतज्जीयतुन एनाने सहबी अरवे अतुन जिकरा।।

वहाजेही योनज्जेतुररसूल बिनल हिंदतुन।।।

यकूतुनल्लाहः या अहलल अरज आलीमीन फुल्लहुम।

फत्तेवऊ जिकरतुल वेद हुक्कुन मातम योनज्वेलतुन।।।

वहोवा अलमुस्साम वल यजुरम्मिल्लाहे तनजीनल।

फए नोमा या अरवीयो मुत्तेवेअन मवसीरियोनजातुन।।।

जइसनैन हुमारिक अतर नासेहीन का-आ-खुबातुन।

वा असनात अलाऊढन व होवा मश-ए-रतुन।।।

अर्थात् ‘हे! हिंद (भारत) की पुण्यभूमि! तू धन्य है, क्योंकि ईश्वर ने अपने ज्ञान के लिए तुझे चुना।।। वह ईश्वर का ज्ञान प्रकाश के चार स्तंभों (वेद) के सदृश्य समस्त जगत को प्रकाशित करता है। यह भारतवर्ष में ऋषियों द्वारा चार रूप में प्रकट हुआ है।।। और परमात्मा समस्त संसार के मनुष्यों को आज्ञा देता है कि वेद जो मेरा ज्ञान है, उसका अनुसरण करो।।। वे ज्ञान के भंडार ‘साम’ और ‘यजु’ हैं, जो इनकी शरण में आ गया वह कभी अंधकार को प्राप्त नहीं होता है।।।

भारतीयों द्वारा अपने पूर्वजों के स्मरण की परंपरा रही है। उसी की भाँति प्राचीन अरबों में यह परंपरा रही थी। इसी कारण कविता का रचयिता लबी-बिन-ए-अख्तर-बिन-ए-तुर्फा का नाम उसकी तीन पीढ़ियों की चर्चा करता है।¹¹ ईरानियों-अरबों आदि के अथर्वण होने के कारण कुरान में अनेक टोने-टोटके विद्यमान हैं।

जिस प्रकार मिश्र-मिस्र (इजिप्ट) शब्द शुद्ध संस्कृत भाषा का है, उसी भाँति प्राचीन मिस्र की नील नदी भी इसके संस्कृत उद्भव का स्मरण कराती है।^{11क} प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में हिरण्यकशिपु पुत्र प्रह्लाद का किंचित अपभ्रंश रूप मे नाम लिया गया है। क्या इसका संबंध आधुनिक लीबिया के भूभाग से हो सकता है, विचारणीय है।^{12क}

महर्षि कश्यप की द्वितीय भार्या अदिति से भग, अंश, अर्यमा, मित्र वरुण, सविता, धाता, विवस्वान, पूषा, त्वष्ट्रा, इंद्र एवं विष्णु नाम बारह पुत्र उत्पन्न हुए। जो देव कहे गए।

इनमें से विष्णु सबसे छोटे और इंद्र उससे बड़े थे। इसी इंद्र का विवाह दनुपुत्र पुलोम की कन्या शची से हुआ था। शची अनिघ सुंदरी थी। प्रजापति कश्यप ने इंद्र को यज्ञ कराकर उसको इंद्र पद प्रदान किया था।

महर्षि कश्यप की तृतीय भार्या दनु से पुलोम, गवेष्ट दुंदुभी, विप्रचित स्वर्भानु, वृषपर्वा, मुंड नामक पुत्र थे।

इस वंश में तातारी राजा वृषपर्वा अथवा अफरासियाव था तथा गवेष्ट के वंशज मनुष्य धर्मी थे तथा कालांतर में वे गाथ¹² कहलाए। गाथिका भाषा इसी समुदाय की भाषा थी तथा यह समुदाय इस्तर-डेन्यव दनाऊ नदी के उत्तरी तट पर बसा था। इस नदी का नाम दनाऊ दनु से संबंधित है। समस्त यूरोपीय जन इन्हीं आदि माता दनु की संतानें हैं।

पुलोम के वंशज पौलोमों का वर्णन शांखायन आरण्यक के पूर्व उद्धृत प्रमाण में आया है। पुलोम की कन्या शची इंद्र की पत्नी थी। जैमिन ब्राह्मण; 3/199 में इसका उल्लेख है यह इंद्र पत्नी शची ऋग्वेद 10/959 मंत्र की द्रष्टी है।

वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा तथा उशना शुक्राचार्य की कन्या देवयानी राजा ययाति की पत्नियाँ थीं। इनके संवाद की चर्चा महाभारत में उल्लिखित है (सभा पर्व 2/26) महाभारत के आदि पर्व में भी शर्मिष्ठा उल्लिखित है (आदि पर्व 73/10/32 तथा 75/91)।

देवों, असुरों और दानवों में बारह संग्रामों की चर्चा महाभारतादि ग्रंथों में है। चौथा देवासुर संग्राम अमृत की प्राप्ति हेतु हुआ था।^{12क} इसमें असुरराज हिरण्यकशिपु एवं इंद्रादि देवों में युद्ध हुआ था। वास्तव में यह संग्राम उस समय पर्वतों की उपत्यका में उग रही मूर्च्छा दूर करने की औषधि संजीवनी एवं घावों को भरने में सक्षम विशाल्या नामक औषधियों के संरक्षण, संवर्धन और उनके उपयोगों को लेकर हुआ होगा। यह सर्वविदित है कि उस युग के श्रेष्ठ भिषज कवि उशना शुक्राचार्य थे, जिन्हें संजीवनी-विद्या आती थी।

अंतिम संग्राम में, तत्कालीन इंद्र की सहायता हेतु (संभवतः शक्र नामक इंद्र) अयोध्या नरेश राजा दशरथ युद्धविद्या विशारदा कैकेयी के साथ गए थे। इस संग्राम में राजा दशरथ वाणों से घायल होकर रथ से गिर गए थे

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरणे।

तत्र त्वां चदावच्छं शत्रुस्तव जीवित मंतरा ॥ (अयोध्या काण्ड, 11, 19)

इसी को याद दिलाते हुए कैकेयी कहती है कि “देव उस युद्धस्थल में सारी रात जागकर, अनेक प्रकार के यत्न करके मैंने आपके जीवन की रक्षा की थी। उससे संतुष्ट होकर आपने मुझे दो वर दिए थे।¹³

महर्षि वाल्मीकि प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने वैदिक ऋचा परंपरा को स्वीकार न करके श्लोक-पद्धति में काव्य रचना प्रारंभ की। बहुत संभव है कि उनके काल तक

आते-आते वैदिक मंत्र रूढ़ि हो गए हों और जन सामान्य की भाषा वह संस्कृत रही हो, जिसमें रामायण निबद्ध है। इसी तथ्य की ओर काशिका 2/4/21 का “वाल्मीके श्लोकाः” व्यक्त करता है।

परंतु रामायण का स्नायु मंडल पूर्ण रूपेण वैदिक है। इसी कारण शतपथ ब्राह्मण का कथन, “प्रारंभ में पृथ्वी का व्यास बिते भर का था। एमूष नामक वराह ने उसे ऊपर उठाया। वह वराह प्रजापति था और पृथ्वी उसकी पत्नी और उसका प्रिय आवास थी।^{14,15} इसी तथ्य की अनुगूँज वाल्मीकि रामायण में उसी भाँति विद्यमान है जैसे सीता और माया मृग का वर्णन और महीयसी नारी कौशिल्या का राम के वनगमन के पूर्व अद्भुत स्वस्तिवाचन।¹⁶

यह देवस्तवन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है और रामायण कालीन धार्मिक चेतना पर प्रकाश डालता है। यह प्रार्थना इस तथ्य का द्योतक है कि काव्य की रचना पौराणिक युग के पूर्व और वैदिक युग के बाद संभवतः ब्राह्मण काल में हुई होगी। इस प्रार्थना की प्रकृति मूलतः वैदिक है और लोकायत धर्म के देवता ही उसमें मुख्य रूप से आते हैं।¹⁷

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि महर्षि वाल्मीकि वैदिक ऋषि थे तथा वे चौबीसवें परिवर्तित में व्यास थे। यह दशरथी राम के समकालिक थे एवं वेद प्रवचन अर्थात् इसके चरण की संधि तथा उच्चारण संबंधी तीन नियम भी तैत्तरीय प्रतिशाख्य में उल्लिखित हैं, जो भाषाशास्त्र के अध्ययन कर्ताओं के इस प्रकार के उच्चारण करने वाले जनों के वास स्थान का निर्धारण करने में सहायक सिद्ध होंगे।¹⁸

महर्षि वाल्मीकि के चार पुत्र थे शालिहोत्र, अग्निवेश, युवनाश्व एवं शरद वसु। दीर्घजीवी अग्निवेश ही द्रोणाचार्य के गुरु थे। उन्होंने ही बहुत पूर्व के पुनर्वसु आत्रेय के आयुर्वेदोपदेश को मंत्रबद्ध किया था,¹⁹ जो कालांतर में चरक संहिता के नाम से विख्यात हुई।

राम ने कैकेयी की प्रेरणा से राजा दशरथ की दी हुई आज्ञा को आदर्श कार्य मानकर वन जाना स्वीकार किया था तथा वनवास के काल के उपरांत उन्होंने उस युग के सर्वाधिक पराक्रमी साधन संपन्न राक्षसराज रावण का वध अत्यंत सीमित साधनों से किया था, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ब्राह्मण साहित्य में राम को, वन यात्रा के कारण ‘राममार्गविय’ कहा गया है। राम के लिए ब्राह्मण साहित्य में ‘रामक्रातु जायते’ विशेषण भी आया है। यह स्पष्ट करता है कि राम का कार्य ऋतु के विधानानुसार संपादित हो रहा था, क्योंकि ब्राह्मण आरण्यक संस्कृति काम, कृतु और ऋतु पर आधारित रही है।²⁰

रामकथा का उत्स महर्षि वाल्मीकि की रचना रामायण है, जो आदिकाव्य है और उसके रचयिता आदिकवि वाल्मीकि सर्व स्वीकार्य हैं। उन्हें राम का समकालीन माना जाता है तथा वे अप्रत्यक्ष रूप में राम कथा के एक पात्र माने जाते हैं, जिनका प्राकट्य

बालकांड में होता है। विद्वानों की मान्यता है कि रामायण के प्रथम और सप्तम कांड प्रक्षिप्त हैं, परंतु इसके उपरांत भी इन दोनों कांडों के केंद्रीय वृत्त ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। वैसा तो प्रक्षिप्त अंश प्रत्येक कांड में विद्यमान हैं, परंतु इसके पश्चात् भी मूल कथा का भाव सर्वत्र व्याप्त है।

रामायण के आधुनिक संस्करणों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें सात कांड, 500 सर्ग और 24 हजार श्लोक हैं।

कहा जाता है कि उत्तर कांड भी महर्षि वाल्मीकि कृत है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ईसवी सन् के प्रारंभ में रामायण में मात्र बारह हजार श्लोक थे, क्योंकि काल्यायनी पुत्र कृत 'ज्ञान प्रस्थान' तथा उसकी महाविभाषा टीका में, स्पष्ट किया गया है कि रामायण नामक ग्रंथ में मुख्यतः दो बातें प्रमुख हैं रावण द्वारा सीता का बलपूर्वक अपहरण तथा राम द्वारा सीता का उद्धार एवं अयोध्या आगमन जो 12000 श्लोकों में वर्णित है।²¹

महाविभाषा संभवतः कनिष्क काल की रचना है तथा यह तथ्य संकेत करता है कि विगत दो हजार वर्षों में रामायण का कलेवर द्विगुणित हो गया।

यह भी संभव है कि महाविभाषा के समय में भी रामायण में प्रक्षिप्त अंश रहे हों, पर इससे कोई विशेष अंतर इस कारण नहीं पड़ता क्योंकि इसका मूल कलेवर सीता हरण और पौलस्त्य-रावण वध की कथा अप्रभावित है।²²

उपलब्ध रामायण के विस्तृत कलेवर के संदर्भ में, स्वतः इसके बालकांड में निहित संकेत है कि मूल रामायण का गान लव-कुश ने राम दरबार में प्रातः से अपराह्न तक किया था। इसको सुनकर श्रोता मुग्ध हो गए थे। इसके उपरांत श्रीराम ने अनुज भरत को आज्ञा दी थी कि दोनों गायकों को समुचित ढंग से पुरस्कृत किया जाए। स्वाभाविक है कि रामायण का गान पूर्ण हो गया था। अन्यथा गायकों को पुरस्कृत करने का प्रश्न उठता ही नहीं।²³ पुनः इसी संदर्भ में ध्यान देनेवाला एक अन्य तथ्य है, कि स्वयं काव्य में, वाल्मीकि रामायण के बाल कांड में कहा गया है कि कवि ने सैकड़ों श्लोकों में इसकी रचना की है, न कि हजारों श्लोकों में।²⁴

श्रीराम की कथा महाकवि भास को (द्वितीय शती ई.पू.) ज्ञात थी। इसी का अवलंब लेकर उन्होंने प्रतिमा और अभिषेक नामक नाटकों की रचना की थी। इसका समर्थन कौशांबी से प्राप्त तथा इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित पकी मिट्टी के एक फलक पर रावण द्वारा सीताहरण का दृश्य, अंकित है जो दूसरी शती ई. पू. का माना गया है।²⁵

शुंग काल में भी रामायण कथा प्रचलित थी तथा महर्षि पाणिनी के सूत्र 111/1/67 का भाष्य करते हुए पातंजलि के महाभाष्य में वाल्मीकि रामायण के अर्धांश को संदर्भित किया गया है।

पुरा काल में रामकथा की व्यापकता एवं प्राचीनता का अन्य प्रमाण है, दशरथ जातक। जिसका मूल रूप जो चार-पाँच श्लोकों को छोड़कर, अप्राप्त है, ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी की रचना है और इसका द्वितीय वर्तमान रूप जो चीनी भाषा से अनूदित है, ई. पू. प्रथम शताब्दी का माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है भारतवर्ष में रामकथा ने भारतीय जनमानस में अपना स्थान बना लिया था।²⁶

महाभारत काल में (3138 ई. पू.) भी लोगों को, जनसामान्य को रामकथा पढ़ने और सुनने में रुचि थी, इसी कारण महाभारत के वनपर्व में, द्रोण और शांति पर्व में रामकथा की चर्चा है।²⁷

वास्तव में रामकथा भारतीय और बृहत्तर भारतीय सभ्यता और बृहत्तर भारतीय सभ्यता-संस्कृति का सवार्धिक व्यापक संकल्प एवं संवेग का स्रोत है। यूरोपीय देशों से लेकर सुदूर मध्य एशिया, तिब्बत, कुश्तन-कंबोजिया आदि देशों में राम कथा के पात्र एवं उनके विषय में जो विवरण पाए जाते हैं, वह उसकी व्यापकता और इसके उत्स को ही नहीं, वरन् इस तथ्य को इंगित करते हैं कि यदि यह वाल्मीकि नामक व्यक्ति की कल्पना होती तो उसका क्षेत्र जंबू द्वीप भारत भूमि से लेकर सुदूर साइबेरिया तक व्याप्त न होता, राम कथा इतने विशाल भू-खंड की जातियों, उप-जातियों की स्मृति में प्रसारित न हुई होती।

उसी संदर्भ में महाभारत वर्णित "षोडश-राजिकों" की सूची में राम का नाम उन सोलह राजाओं के साथ आता है, जिन्होंने विपुल मात्रा में गोदान कर यश अर्जित किया था। इसके अतिरिक्त राम का नाम दो बार महाभारत में उनकी दानशीलता के लिए आता है।²⁰

ये सभी तथ्य स्पष्ट रूप से निर्देश करते हैं कि भारत के प्राचीन इतिहास में अयोध्या-नरेश दशरथ-पुत्र राम एक वास्तविक ऐतिहासिक पुरुष थे तथा वाल्मीकि रामायण की लोकप्रियता के कारण ही श्रीराम में कालांतर में देवत्व का आरोहण होने लगा था। कालांतर में वे विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

मिस्र के शासक आमैनहाटोप तृतीय को लिखे गए एक पत्र में मितन्नी वंश के राजा दुषरथ (दशरथ) जो अनुमानतः ई. पू. 1800 शती में विद्यमान था, ने सूचित किया है, कि "उसने अपने कुल देवता रामन की कृपा से अपने विद्रोही भाई आर्तसम या आर्तमम, को बंदी बनाकर मार डाला। पक्की मिट्टी पर लिखा गया यह पत्र मिस्र के तेल-अल-अमरना नामक स्थान की खुदाई में प्राप्त हुआ। संदेश कीलाक्षरी लिपि में है।"

विद्वानों के अनुसार रामन शब्द श्रीराम का किंचित परिवर्तित रूप है, जिससे अरबी भाषा के रहमान की उत्पत्ति रामन-रम्मन-रहमान के रूप में हुई है।

इसी संदर्भ में ध्यातव्य है कि प्राचीन मिस्र के कुछ शासकों के नाम भी राम पर आधारित होते थे। उदाहरणार्थ परमेशश रामेशास-1 तथा महान रामेशश (1299 से

1249 ई. पू.) आदि जो स्पष्ट रूप से पश्चिमी एशिया में राम की महत्ता एवं ईश्वरत्व प्राप्त करने का 15वीं शती ई. पू. के पहले संकेत करता है।²⁸

इजरायल के समीप स्थल रामल्ला (राम=अल्लाह) तथा ईरान एवं अफगानिस्तान आदि क्षेत्रों में राम के नाम से संबद्ध स्थल, इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।²⁹

ईरानियों के प्राचीन धर्म ग्रंथ आवेस्ता में श्रीराम संबंधित राम याशत है। यहाँ राम युद्ध के देवता हैं वायु के समान हैं और उनको स्मरण युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए किया जाता है।³⁰

वृषाकपि सूक्त³¹ लोक धर्म की किसी विस्मृत शृंखला की ओर संकेत देता है, जिसका रूपांतरण नृ-पशु आकृति के देवों गणपति, नृसिंह और हनुमान में हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई आदिम आर्य लोक धर्म का देवता था तथा इंद्र के साथ उसकी मैत्री यह संकेत देती है कि वह देव मंडल में प्रवेश हेतु प्रयासरत था। इस सूक्त में प्रथमतः शची उसका विरोध करती है, परंतु कालांतर में वह देव मंडल में स्थान पाने में सफल हो जाता है। हनुमान और वृषाकपि में अद्भुत साम्य है, क्योंकि वृषा और कपि की संयुक्ति हनुमान में है। पार्जितर मूल शब्द हनुमान मानते हैं। हनुमान का मूल रूप हाणु है जो अणु शब्द से युक्त होकर निर्मित हुआ है।³² परंतु श्री कुवेर नाथ राय इससे सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में हनु-जबड़े की अस्थि है ठुड्डी के लिए संस्कृत शब्द चिबुक है। हनुमान का अर्थ मात्र हड्डी अथवा जबड़ेवाला होता है। परंतु हनुमान का मूल शब्द है आणुमाल, जिसमें जुड़कर हणुमाल हो जाता है। दक्षिण भारत में माल अथवा मल का अर्थ वीर होता है और आणु का अर्थ पुरुष होता है अतः हनुमान वीर पुरुष हैं। दक्षिण में वानर जाति अपने शारीरिक बल के लिए विख्यात थी।³³

वाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि यह जाति समस्त जंबू दीप में व्याप्त थी तथा वाल्मीकि ने इन्हें वानर, कपि, हरिप्लवंगम, शाखा मृग आदि शब्दों से संबोधित किया है। ये कपिगण आरण्यों, पहाड़ियों पर, कंदराओं, गुफाओं में वास करते थे। स्पष्ट है कि वे भवन निर्माण कला और स्थापत्य से अपरिचित थे। वे प्रकृति की सहज संतान थे तथा वे स्वाभाविक रूप से नृत्य, मद्यपान, गीत, पुष्पशृंगार एवं माल्य रचना में प्रवीण थे। इनका परिचय मूल्यवान रत्नों, धातुओं तथा आभूषणों से था। परंतु वे शारीरिक साज-सज्जा में पुष्प शृंगार को महत्त्व देते थे। वे आर्यों की आश्रम संस्कृति से एवं विद्या से परिचित थे तथा वृक्षों पर वास करने में समर्थ थे। इस प्रकार वे क्रूर श्वापदों से अपनी प्राण रक्षा करते थे।³⁴

हनुमान की वाग्मिता के कारण श्रीराम अपनी पहली भेंट में कह उठते हैं

ना नृगवेद विनीतस्य न यजुर्वेद धारिणः।

न सामवेद विदुषः शक्य मेव विभाषितुम ॥ कि. 3/28

जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान नहीं है, वह इस प्रकार की सुंदर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही उन्होंने व्याकरण का कई बार अभ्यास किया है, क्योंकि वार्ता के समय इनके मुख से कोई अशुद्धि नहीं निकली। सावधानीपूर्वक विचार कर हनुमान ने अपना कपिरूप त्याग कर भिक्षु-सामान्य तपस्वी का रूप धारण कर लिया था।³⁴ इसी संदर्भ में ध्यातव्य है कि हनुमान की भाँति समस्त वानरगण-मानव ही थे, क्योंकि यदि वे मानव न होते तो रावण द्वारा अपहृत सीता अपने कुछ वस्त्र एवं आभूषण ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे सुग्रीव के अनुयायियों को देखकर न गिरातीं, जिनको देखकर श्रीराम उनके अपहरण की दिशा सुनिश्चित कर सके।³⁴

इसी भाँति श्रीराम की महती वानर चमू, सेना का गुप्त निरीक्षण करने, रावण के दूत शुक और सारंग ने वानरों का रूप धारण कर लिया था।³⁴

वैदिक देव वरुण के पाश के समान ही वानर जन जो कटिबंध तथा पुच्छ धारण करने थे, वही इनके शृंगार का, सुरक्षा का, प्रसिद्धि का साधन बन गया। इसी से इनको प्रतिष्ठा मिली। जैसे पुरा काल में मरुदगण गो-शृंग धारण किया करते थे। उसी भाँति पुच्छ इन वानरों का शृंगार थी। आज भी अमेरिका में घोड़ों पर सवार काउ ब्याय लंबी रस्सी के फंदे को फेंककर भागती हुई गायों को फँसाते हैं तथा टिकरी जंगल के समीप बसे भर गण भी रवाभर-द्वारा नील गाय आदि पकड़ते हैं। यह सभी पुरावर्णित पाश के परिवर्तित स्वरूप हैं। मुगलकालीन कर्मद, जो किले पर चढ़नेवाले सैनिकों द्वारा प्रयोग की जाती थी, भी इसी पुच्छ का एक स्वरूप थी।

वानर जाति के अस्त्र-शस्त्र उन्हीं की भाँति आदिम थे। वे शरीर के आधे भाग पर वस्त्र पहनते थे, परंतु उसकी स्त्रियाँ साड़ी आदि से शरीर को ढकती थीं। वे पुच्छ धारण नहीं करती थीं। यह वीर जाति अपनी कमर में रस्सी लपेटे रहती थी जिसका एक सिरा अलंकृत रहता था। घने आरण्य में यह पेड़ों पर चढ़ जाते थे तथा अपने शत्रुओं को अपनी कमर में लपेटी हुई रस्सी में फँसा लेते थे।

युद्ध में यह जाति पथरों, वृक्षों, शिलाखंड आदि का प्रहार शत्रुओं पर करती थी तथा यह मल्ल विद्या में प्रवीण थे। वानरों को पूँछ की अनुगूँज समस्त जंबू दीप में व्याप्त थी। इटली में उत्खनन के उपरांत प्राप्त एक पात्र पर, जो पाँचवीं शती ई. पू. का है, अंकित चित्र में दो वस्त्र विहीन पुच्छ धारी पुरुष संघर्ष-मल्ल युद्ध की मुद्रा में खड़े हैं तथा उनके मध्य खड़ी साड़ी धारिणी एक महिला उन्हें युद्ध करने से रोक रही है। विद्वानों के अनुसार पात्र पर खचित दोनों पुरुष बालि और सुग्रीव हैं तथा युद्ध रोकने का प्रयास करती महिला तारा हैं।³⁵ यह यूरोप में राम कथा के विस्तार का द्योतक है।

इस वानर-महाजाति का विस्तार जंबू दीप में कितना व्यापक था, इसका अनुभव वाल्मीकि रामायण के किष्किंधाकांड के सर्गों, 37 और 38 को पढ़कर किया

जा सकता है। राम द्वारा प्रेषित क्रोधातिरेक से पूर्ण लक्ष्मण को सुग्रीव बताते हैं कि रावण की अपनी महती चमू से संग्राम हेतु वे हनुमान द्वारा जंबू द्वीप के वानर वीरों को युद्ध का निमंत्रण भेज रहे हैं। इसी संदर्भ में सुग्रीव जिन वानर वीरों को और उनके क्षेत्रों की चर्चा करते हैं वे थे हिमाचल क्षेत्र, कैलास प्रतिवेष-तिब्बत, धूमगिरी, उदयाचल, सुमेरु (आल्टाई पर्वत शृंखला आधुनिक रूस का वेलूखा पर्वत जो उच सुमेर के नाम से आल्तायी भाषा में विख्यात), किंपुरुष वर्ष साईबेरिया की क्षेत्रज नहीं क्षीरोदा जो वेलूखा पर्वत के समीप है; इला वर्ष का दक्षिणी भाग, गंध-मादन (कुमायूँ गढ़वाल क्षेत्र), अरुणाचल (समस्त मेघालय असम), अस्ताचल (पामीर क्षेत्र), महाअरुणाचल (समस्त असम क्षेत्र) विंध्यगिरि, अंजना गिरि क्षेत्र (पश्चिमी घाट का आरण्य क्षेत्र) पद्यताल एवं तमालवन (केरलीय क्षेत्र)।³⁶

महाकवि ने इन वानर गणपतियों के रंगों का वर्णन अति कुशलता से किया है। कैलास क्षेत्र से आए वानरगण श्वेत वर्ण के, हिमालय-गढ़वाला अंचल के वानर केसर पीत वर्णधारी थे। अरुणाचल प्रदेश के वानर वीर भी इसी वर्ण के थे। हनुमान किंपुरुष वर्ष के होने के कारण रूसी जनों की भाँति अरुण त्वचाधारी थे। अंजन गिरि वासी वानरगणों के सेनापति नील का रंग श्याम था। यह सभी वानरगण इच्छानुसार वेशधारी थे तथा वे वृक्षों पर चलकर, चढ़कर-कूदकर युद्ध करने में प्रवीण थे। इस महाजाति में स्वामी के प्रति निष्ठा कूट-कूट कर भरी थी। यह आदिम का लक्षण था।

हनुमान की भाँति ही अन्य वानर यूथपतियों को विभिन्न दिशाओं में जाने का निर्देश देते हुए विनत नामक वानर यूथ पति को बृहत्तर भारत के द्वीपों पर जाने की आज्ञा देते हुए कहते हैं

*यन्तवन्ते यव द्वीप सप्त राज्योपशोभितम् ।
सुवर्णं रूप्यक द्वीपं, सुवर्णं कर मंडितम् ॥
यव द्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ।
दिवं स्पंशति श्रुगेण देव दानव सेवितः ॥*

तुम लोग सात राज्यों से सुशोभित यव द्वीप, जावा, सुवर्ण द्वीप सुमात्रा तथा रूप्य द्वीप में गमनशील होकर जाना तथा सुवर्ण द्वीप में, जो सुवर्ण खानों से युक्त है, सीता को ढूँढ़ने का प्रयास करना। यव को लौंघकर आगे जाने पर दूसरे द्वीप पर शिशिर नामक पर्वत मिलेगा, जिस पर देवता दानव निवास करते हैं। अपने उच्च शिखर के कारण यह पर्वत स्वर्ग को स्पर्श करता लगता है।³⁷ यह वर्णन रामायण में सातवाहन युग में आया होगा, क्योंकि उस युग में भारतीयों का इन क्षेत्रों से घनिष्ठ व्यापारिक संपर्क था, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

रामायण में वर्णित शिशिर नामक पर्वत आज भी न्यूगिनी में इसी नाम से जाना जाता है। न्यूगिनी को डच लोग स्वतंत्र करने के लिए उस द्वीप के वासियों से पुरा

कालीन साक्ष्य प्रस्तुत करने की शर्त रख दिए थे। तब इंडोनेशिया की भाँति ही इस द्वीप के वासियों ने वाल्मीकि रामायण का उपर्युक्त साक्ष्य प्रस्तुत कर स्वतंत्रता प्राप्ति की। इसका श्रेय वाल्मीकि-रामायण तथा वानरराज विनत को मिलना चाहिए।³⁷

संदर्भ सूची

1. सुरेश इमरे : *रैपिड क्लाइमेटिक चेंज* 11.5 थाउजेंड इयर-अंतर्जाल।
2. पं. भागवतदत्त : *वैदिक वाग्मय का इतिहास*, विजय कुमार हासानंद, 4408 नई सड़क, दिल्ली-110006, भाग-1, पृ. 212, 57।
- 2क. पं. भागवतदत्त : *भारतवर्ष का वृहद इतिहास*, प्रणव प्रकाशन, 1/28 ईस्ट पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026, भाग-2, पृ. 2-3. जल प्लवन का काल लगभग 14000 वर्ष पूर्व का अनुमान सुरेश इमरे की वैज्ञानिक गणना के समान है, देखें पृ. 4, भाग-1, प्रह्लाद के संदर्भ में देखें पृ. 223, भाग-1, देवासुर संग्राम, पृ. 94, भाग-1।
3. *कौस्पियन सी* : विकीपीडिया, अंतरजाल, तथा वर्मा. टी. पी. : सोवियत एंड सेंट्रल एशियन आर्कियालोजी एंड वैदिक कल्चर, ज्ञान प्रवाह, 14, 2010-2011, पृ. 31-46।
4. अवध बिहारी लाल अवस्थी : *प्राचीन भारतीय भूगोल*, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ 1972, पृ. 205 तथा रेसेज इन इंडिया, इंटरनेट से उपलब्ध।
5. महाभारत सभापर्व 1/15, एवं संदर्भ 2क पृ. 218।
6. पं. भागवतदत्त : वैदिक वाग्मय का इतिहास, भाग-1, पृ. 49।
7. तैत्तिरीय ब्राह्मण : 1/5/9
8. देखें संदर्भ 2, पृ. 51।
9. संदर्भ 2, पृ. 52।
10. संदर्भ 2, पृ. 52 एवं 53, 54।
11. गुंजन अग्रवाल : *प्रागैस्लामिक अरब में हिंदू संस्कृति, इतिहास दर्पण* 15 (2), 2010, 42-68।
12. वर्मा टी.पी. : *द इथनो-लिंगुइस्टिक आईडेंटिटी ऑफ केल्ट्स*, इतिहास दर्पण 16 (2), 2011, पृ. 163-178।
13. *श्रीमद् वाल्मीकि रामायण*, गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं. 2024 अयोध्या कांड, 11/18।
14. *शतपथ ब्राह्मण* : इयतहिवा इय मग्ने पृथ्वी व्यास प्रदेश मात्री, तामेभूष इति वराह उज्जाधान...।
15. ऋग्वेद, 4/57/6।
16. *वाल्मीकि रामायण* 2/110/3-4 तथा अयोध्याकांडे पंचविश सर्ग 1/49।
17. कुबेरनाथ राय : *रामायण महातीर्थम्*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 323।

18. संदर्भ 2, पृ. 104-105।
19. संदर्भ 2, पृ. 104।
20. ठाकुर प्रसाद वर्मा : *श्रीराम और उनका युग*, भारतीय इतिहास संकलन समिति, उ. प्र., 1992, पृ. 11।
21. बनर्जी, पी : *राम इन इंडियन लिटरेचर आर्ट एंड थॉट*, दिल्ली, 1968, पृ. 4 एवं वर्मा, टी. पी. श्रीराम और उनका युग, भारतीय इतिहास संकलन समिति, उ. प्र., 1993, पृ. 61।
22. काव्य रामायण कृत्स्न सीतयाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्य वधीमित्ये चकारचरितव्रत ॥ 1/4/7
23. राजीव रंजन उपाध्याय, *सेतु समुद्रम : नल सेतु सुदुष्कर* : इतिहास दर्पण, 16 (1), 2011, पृ. 21-29।
24. उदारवृत्तार्थ पदैर्मनोरमै स्तदास्य रामस्यचकार कीर्ति मान । समाक्षरैः श्लोकशतैर्यस्विनो, यशस्कार काव्य मुदार दर्शनः ॥ 1/3/42।
25. संदर्भ 2, पृ. 9।
26. संदर्भ 20, पृ. 11।
27. *महाभारत* वन पर्व, द्रोण एवं शांति पर्व, गीता प्रेस गोरखपुर, अध्याय 274-291, पृ. 1915-1990, अध्याय 5, पृ. 32-56, अध्याय 29, पृ. 51-61।
28. गुंजन अग्रवाल, *प्रागैस्लामिक अरब में हिंदू संस्कृति*, इतिहास दर्पण, 15, 2010, पृ. 44।
29. अजहर. ए. डब्ल्यू; *फारसी में रामकथा*, श्रेय खंड, भाग 1, 1962।
30. रामयाश्त देखें अंतरजाल (इंटरनेट) राम से संबंधित नामों हेतु।
31. ऋग्वेद : वृषाकपि सूक्त, 10/159।
32. पार्जीटर, एक.ई., *एंशेंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन* एवं वर्मा, ठाकुर प्रसाद, *श्रीराम और उनका युग*, पृ. 47।
33. कुबेर नाथ राय : *रामायण महातीर्थम*, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 292।
34. *वाल्मीकि रामायण*, किष्किंधा कांड, 3/28, 2, 289, 681 एवं युद्धकांड पंचविश सर्ग 9।
35. *श्रीराम विश्व कोश*, संपादक डॉ. भगवती प्रसाद सिंह एवं डॉ. ठाकुर प्रसाद वर्मा, वाराणसी, पृ. 43 चित्र सं. 6।
36. *वाल्मीकि रामायण*, किष्किंधा कांड, चत्वांशत सर्ग 30/31, पृ. 790।
37. सिंह, सत्यपाल, *मर्यादा पुरुषोत्तम राम की ऐतिहासिकता*। परोपकारी, परोपकार भी सभा, अजमेर, अगस्त 2005, पृ. 291-295।

पर्यावरण संरक्षण की ओर

दिनेश मणि*

आज का मानव विकास के नाम पर पर्यावरण का लगातार दोहन करता चला जा रहा है, जिसके कारण सारी दुनिया के पर्यावरणीय घटकों जल, वायु, मृदा इत्यादि में बदलाव आ रहा है। यदि इसी गति से भूमंडल के जैव तथा अजैव घटकों में परिवर्तन होता रहा तो इसका परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव मानव जाति पर पड़ेगा, जो निश्चित रूप से मानव जाति के लिए विनाशकारी होगा। अतः मनुष्य को जीवित तथा निर्जीव सभी अवयवों के आपसी संबंध को ध्यान में रखते हुए ही अपने क्रिया-कलापों को इस तरह से नियंत्रित करने की आवश्यकता है, जिससे सबके कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो। प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल व्यवस्थित एवं सीमित रूप में करना चाहिए। इसके लिए जनसाधारण में पर्यावरण बोध/चेतना जाग्रत करना अति आवश्यक है।

पर्यावरण से हमारा आशय हमारे चारों ओर एक ऐसे आवरण से है, जो हमें ताजी हवा दे, पीने लायक पानी दे, पौष्टिक खाद्य पदार्थ दे। पर्यावरण के विभिन्न घटक जैसे जल, वायु, मिट्टी इत्यादि सब प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखने में अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। प्राकृतिक संतुलन न केवल प्रकृति के सौंदर्य को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, अपितु हमारे दैनिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए भी अति आवश्यक है।

जब प्राकृतिक या मानवीय कारणों से पर्यावरण के किसी घटक को हानि पहुँचती है तो वह अपनी स्वनियमन व्यवस्था से उसे संतुलित करने का प्रयास करती है, पर जब वह सहनसीमा से अधिक हो जाती है, तो हमें प्रतिकूल परिणाम मिलने लगते हैं। इन परिणामों से बचने के लिए हमें सर्वप्रथम पर्यावरण के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

*डॉ. दिनेश मणि, डी.फिल., डी.एस.सी., पूर्व संपादक, "विज्ञान" मासिक पत्रिका 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड जार्ज टाउन, इलाहाबाद-2

वह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि पर्यावरण के लगभग सभी घटकों जल, थल, वायु इत्यादि पर बढ़े अनावश्यक दबाव के परिणामस्वरूप भारत सहित अनेक देशों में गरीबी, असुरक्षा, अपर्याप्त विकास-दर, संसाधनों की कमी, जनसंख्या का दबाव तथा आर्थिक विषमताओं जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं। अंतः यही विषम परिस्थितियाँ अनेक देशों में राजनीतिक तनाव तथा क्षेत्रीय विवाद के लिए उत्तरदायी हैं।

सच तो यह है कि अपनी सुख-सुविधा के साधन जुटाने के लिए मनुष्य अपनी सभ्यता के प्रारंभ से ही प्रकृति का शोषण करता रहा है, फलस्वरूप प्रकृति को होने वाली यह क्षति उस सीमा तक पहुँच गई है कि इस समूचे ग्रह (पृथ्वी) का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। धरती को होनेवाले इस नुकसान को देखने के लिए अब दूर जाने की जरूरत नहीं। बढ़ते बंजर इलाके, फैसले रेगिस्तान, कटते जंगल, लुप्त होते पेड़-पौधे और जीव-जंतु, प्रदूषणों से दूषित पानी, शहरों पर गहराती गंदी हवा और बाढ़ एवं सूखे के प्रकोप इस बात के साक्ष्य हैं कि मनुष्य ने अपनी धरती की सही देखभाल नहीं की।

यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि प्रकृति ने सभी वनस्पतियों, जीव-जंतुओं को अपने तौर पर एक संतुलित स्थिति में बना रखा है। केवल मनुष्य मात्र ही ऐसा है, जो विकास की उस सीमा तक पहुँच गया है कि वह अपना आराम जुटाने के लिए प्रकृति के घटकों को शोषित कर रहा है। प्रकृति के साथ अनेक वर्षों से की जानेवाली छेड़छाड़ के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली असंतुलन की स्थिति ने अन्य जीवों के साथ स्वयं उसके अस्तित्व को भी खतरे में डाल दिया है। आज यह बात स्पष्ट-से-स्पष्टतर होती जा रही है कि प्रकृति के संसाधनों का अंधा-धुंध इस्तेमाल करके मनुष्य अपने अस्तित्व को बचाए नहीं रह सकता। प्रकृति और उसके घटकों के विनाश के साथ मनुष्य का विनाश सुनिश्चित है। यही कारण है कि आज अनेक सरकारी और गैर-सरकारी संगठन इस बात का विशेष प्रयत्न कर रहे हैं कि दुनिया के आम आदमी को इस चुनौती के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराया जाए, ताकि उसके अस्तित्व को संकट में डालनेवाले तथ्यों की उसे समय रहते जानकारी हो जाए और स्थिति को सुधारने के उपाय गंभीरता से किए जा सकें।

जैसा कि हम जानते हैं कि पृथ्वी पर रहनेवाले प्रत्येक सात व्यक्तियों में से एक भारतीय है। हमारे यहाँ विश्व की 16 प्रतिशत जनसंख्या के लिए पृथ्वी का केवल 2.4 प्रतिशत भू-भाग है। इसलिए प्राकृतिक संसाधनों की माँग का अधिक होना स्वाभाविक है। यह स्थिति तो तब है, जब विकासशील राष्ट्रों की तुलना में औसत भारतीय बहुत कम संसाधनों का उपयोग करता है।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि पर्यावरण के बदलते परिवेश में विशेषकर उसके निम्नीकरण से देश में उपलब्ध संसाधनों में कमी आती है और इसी कमी के

फलस्वरूप पड़ोसी राज्यों एवं देशों में विवाद तथा तनाव बढ़ता जाता है। आप कल्पना कर सकते हैं कि यदि विकासशील देशों में औसत प्रति व्यक्ति खपत विकसित राष्ट्रों के समान होती तो पर्यावरण संकट अधिक गंभीर होता। यद्यपि प्रति व्यक्ति खपत कम होने का प्रमुख कारण गरीबी है, लेकिन जहाँ तक भारत का संबंध है, इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि अधिकांश भारतीयों की जीवन-शैली हजारों वर्षों में विकसित पर्यावरण के अनुकूल स्वस्थ परंपराओं पर आधारित है। फिर भी अन्य राष्ट्रों की तरह भारत के प्राकृतिक पर्यावरण पर भी हिंसा के निशान हैं। इसी से भारत को भी पर्यावरणीय समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन समस्याओं का नागरिकों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। साथ ही बढ़ती आबादी की बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दबाव पड़ता है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ पर्यावरणीय समस्याओं को दो व्यापक वर्गों में रखा जा सकता है

1. गरीबी और अविास की अवस्थाओं से पैदा होनेवाली समस्याएँ।
2. विकास की प्रक्रिया के नकारात्मक प्रभावों के कारण पैदा होनेवाली समस्याएँ।

पहले वर्ग का संबंध हमारे प्राकृतिक संसाधनों भूमि, जल, वन तथा वन्य जीवन के स्वास्थ्य और अखंडता के प्रभाव से है। यह गरीबी और अपर्याप्त उपलब्धता के कारण हमारी अधिकांश जनसंख्या की बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं रोटी, ईंधन, मकान, रोजगार को पूरा न कर पाने के कारण हैं। दूसरे वर्ग का संबंध तेज आर्थिक वृद्धि और विकास करने के अनुदृश्य सह-प्रभावों से है। दूसरे वर्ग में अनियोजित विकास परियोजनाओं और कार्यक्रमों से और व्यापारिक और निहित स्वार्थों द्वारा दीर्घकालीन हितों पर ध्यान न देने के कारण प्राकृतिक संसाधनों की क्षति होती है।

गरीबी के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ अपेक्षाकृत ज्यादा विस्तृत हैं और इनकी ओर तत्काल ध्यान देना आवश्यक है। लोगों को अनाज उगाने और जीविका अर्जित करने के लिए पर्याप्त उपजाऊ भूमि उपलब्ध कराने की चुनौती और वनों, वन्य पशुओं तथा मृदा और जल के आपसी संबंधों के संरक्षण की आवश्यकता एक-दूसरे का अतिक्रमण करती है। दूसरी ओर विकास की प्रक्रिया में पानी, सफाई, बिजली और सड़कों जैसी आधारभूत सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए बड़े स्तर पर पूँजी व्यय करने की जरूरत होती है।

यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि जिस भौतिक वातावरण में गरीब रहते हैं, उसका निश्चित रूप से दुरुपयोग होता है। अपने अस्तित्व के कगार पर खड़े लोग भविष्य के लिए संरक्षण करने की विलासिता का बोझ नहीं उठा सकते। उनके लिए

तो चाहे कहीं से भी हो ईंधन के लिए लकड़ी जुटाना अत्यंत आवश्यक है जिस धरती पर भी घास मौजूद हो, उन्हें वहीं अपने पशु चराने पड़ते हैं। खाने के लिए भोजन जुटाने की प्रक्रिया में जमीन के बंजर होने तक उस पर खेती करते रहना उनकी मजबूरी है। उनकी आवश्यकता और मजबूरी के कारण जंगल कटते जाते हैं, भूमि का क्षरण होता है और पानी अपशिष्ट पदार्थों से प्रदूषित हो जाता है। ये पर्यावरणीय समस्याएँ गरीबी के कारण पैदा होनेवाली समस्याएँ हैं, इनका समाधान गरीबी को धीरे-धीरे कम करने से ही हो सकता है और इसके लिए ऐसे विकास कार्यों का सहारा लेना जरूरी है, जिनकी योजना तैयार करते समय इस बात का ध्यान रखा गया हो कि वे पर्यावरण की दृष्टि से निर्दोष हैं। पर्यावरण मुख्य रूप से जैविक एवं अजैविक दो घटकों से मिलकर बना है। जैविक घटक हैं पेड़-पौधे, मनुष्य, जीव-जंतु, पक्षी-पशु आदि। वहीं अजैविक घटकों में भौतिक एवं रासायनिक गतिविधियाँ हैं, जिनके माध्यम से हमें वायुमंडलीय गैसों, ताप, प्रकाश, जल और मृदा आदि प्राप्त होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के दौरान उद्योगों से रोजगार का सृजन हुआ एवं लोगों के ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर प्रस्थान करना प्रारंभ किया, जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उपभोक्तावाद में वृद्धि होने के कारण प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग निर्माण, उद्योग, परिवहन एवं अन्य उपभोगों के लिए किया जाने लगा और शहरों में बढ़ती जनसंख्या से पर्यावरण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हो गई। शहरीकरण सामाजिक विकास एवं आर्थिक परिवर्तन का एक स्वाभाविक प्रतिफल है; इससे व्यक्ति एवं स्थान दोनों प्रभावित होते हैं।

तीव्र गति से बढ़ते औद्योगीकरण तथा मानवीय क्रिया-कलापों द्वारा भारत ही नहीं संपूर्ण विश्व में पर्यावरण प्रदूषण एवं पारिस्थितिकी असंतुलन की स्थिति भयावह होती जा रही है। विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों यथा जल, वायु, मृदा प्रदूषण इत्यादि की समस्या के अतिरिक्त आज वैश्विक तापन और जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएँ संपूर्ण विश्व के लिए चिंता का विषय बन गई हैं।

अक्सर यह देखा गया है कि प्रदूषण के कई प्रभावों की शुरुआत तो पर्यावरण के किसी एक घटक विशेष से होती है, परंतु अंतोगत्वा उनका प्रभाव अन्य दूसरे घटकों पर भी पड़ता है। आदर्श पर्यावरण वह है, जिसमें हमें साँस लेने के लिए शुद्ध प्राणवायु (ऑक्सीजन) मिले, खाने के लिए शुद्ध खाद-पदार्थ मिले तथा पीने के लिए शुद्ध पेयजल प्राप्त हो, किंतु ये चीजें अब दुर्लभतर होती जा रही हैं। हमें इस बारे में सोचना है।

जल वाष्प, कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन एवं नाइट्रस ऑक्साइड जैसी गैसों को, ग्रीन हाउस गैस के नाम से जाना जाता है। ये गैसों जलवायु में अवांछित परिवर्तन करती हैं। पृथ्वी के तापमान में वृद्धि को वैश्विक तापन कहा जाता है।

वैश्विक तापन के संदर्भ में मीथेन गैस का योगदान महत्वपूर्ण है। ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में कार्बनिक पदार्थों को विघटित करनेवाले जीवाणु मीथेन गैस के उत्पादन के लिए उत्तरदायी हैं। प्राकृतिक रूप से यह गैस धान के खेतों, नमभूमि और दलदल से निकलती है। रोमंधियों की आँतों में भोजन का होनेवाला किण्वन भी मीथेन का एक प्रमुख स्रोत है। औद्योगिक क्रांति के उपरांत वायुमंडल में मीथेन की सांद्रता दुगुनी हो चुकी है और यह गैस ग्रीन हाउस प्रभाव को बीस प्रतिशत तक बढ़ा सकती है। औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैसों की कुल मात्रा में 15 प्रतिशत हिस्सा मीथेन का है। कुल मीथेन उत्सर्जन का 10 प्रतिशत उत्सर्जन औद्योगिक और महानगरीय अपशिष्ट जल द्वारा होता है, जो मानव निर्मित कारक है।

जहाँ तक औद्योगिक अपशिष्ट जल से मीथेन उत्सर्जन का प्रश्न है, ऐसे कुल उत्सर्जन का 76 प्रतिशत केवल विकसित राष्ट्रों द्वारा होता है तथा शेष 24 प्रतिशत उत्सर्जन विकासशील राष्ट्रों द्वारा होता है। अपशिष्टों में मुख्यतः पल्प एवं पेपर, मांस एवं मुर्गी पालन तथा रासायनिक उद्योगों से निकलनेवाले अन्य पदार्थ सम्मिलित हैं। इनके अलावा खाद्यान्न उत्पादन, मद्य निर्माण तथा चीनी उद्योगों से निकलनेवाले अपशिष्ट जल के साथ मीथेन को बढ़ावा देते हैं।

अपशिष्ट जल के कार्बनिक पदार्थों के विघटन के फलस्वरूप ही मीथेन उत्सर्जन होता है एवं अपशिष्ट जल की जैव रासायनिक ऑक्सीजन माँग (बीओडी) और रासायनिक आक्सीजन माँग (सीओडी) की दर मीथेन उत्सर्जन का सूचक है। जितनी अधिक बीओडी तथा सीओडी की मात्रा होगी उतना अधिक मीथेन का उत्सर्जन होगा।

अब यह बात लगभग पूरी तरह से स्पष्ट हो चुकी है कि पर्यावरण संरक्षण हेतु दुनिया के हर इंसान का जुड़ना आवश्यक है, किंतु ऐसा तभी हो सकता है, जब सोचने के पारंपरिक तरीके में एक बार फिर आमूल-चूल परिवर्तन आए। पर्यावरण और पारिस्थितिकी पर विचार करनेवालों के एक संपूर्ण समस्या का कारण वैज्ञानिक क्रांति को स्वीकार किया। परंतु विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों की जानकारी ही प्रदान की है, उसके उपयोग की दिशा को राजनैतिक, व्यापारिक अथवा दूसरे कारक निश्चित करते हैं। मनुष्य अक्सर यह नहीं जानता कि उसके लिए वरदान क्या है और अभिशाप क्या है? जब अणुशक्ति का अनुसंधान हुआ तो किसने सोचा था कि विश्व का अद्वितीय वैज्ञानिक अनुसंधान एक दिन हिरोशिमा और नागासाकी के विध्वंस का कारण बनेगा। वास्तव में कोई भी वैज्ञानिक अनुसंधान, प्रक्रिया, प्रणाली और प्रयोग अपने-आप में वरदान या अभिशाप नहीं होता। उसकी उपादेयता इस बात पर निर्भर करती है कि हम उसका उपयोग कैसे करते हैं। इसी कारण फरवरी 1993 में फ्रांस में वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन, में निम्न प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया

1. हम उन समस्त सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से ठुकराते हैं जिनके अनुसार वैज्ञानिक खोज और तकनीकी प्रगति मानव जाति के लिए लाभदायक कम और हानिकारक अधिक है।
2. व्यापक संहारकारी अस्त्रों को उन्नत किए जाने की जिम्मेदारी विज्ञान पर नहीं है।
3. करोड़ों मजदूरों पर लादी गई काम की असहनीय परिस्थितियों से पैदा होनेवाली शारीरिक और स्वाभाविक थकान में वृद्धि की जिम्मेदारी विज्ञान पर नहीं है।
4. उत्पादन के निरंतर गति से और तीव्रता के साथ बढ़ने के बावजूद काम के घंटे पहले की तरह बनाए रखने का दोषी विज्ञान नहीं है।
5. विज्ञान का अर्थ प्रत्येक प्रकार के प्रदूषकों से प्रकृति को प्रदूषित किया जाना नहीं होता।
6. इसके विपरीत विज्ञान समाज के समक्ष वह समाधान प्रस्तुत करता है, जो काम की बेहतर शर्तों और बिना प्रदूषण के उत्पादन की परिस्थितियाँ पैदा करे। यदि इन समाधानों को लागू नहीं किया जाता तो यह विज्ञान की गलती नहीं है।
7. उत्पादन की अराजकता की जिम्मेदारी विज्ञान पर नहीं है वह न तो पूँजीवादी संचय के लिए जिम्मेदार है और न उसके परिणामों के लिए।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पर्यावरणीय समस्याओं के लिए विज्ञान दोषी नहीं है। अक्सर यह देखा गया है कि किसी भी समस्या के समाधान में प्रशासन आड़े आ जाता है। जब कभी हमें समय पर वांछित प्रशासनिक सहायता नहीं मिलती है, हमारी नीतियाँ सफल नहीं हो पातीं। अतः पर्यावरण के प्रश्न पर भी प्रशासन का यह दायित्व बनता है कि वह उन अल्पसंख्यक सुविधाभोगियों से देश के वर्तमान कानूनों के अनुसार कड़ाई से पेश आए, जो अपना लाभ बढ़ाने के चक्कर में पर्यावरणीय असंतुलन पैदा कर रहे हैं। किसी भी देश की जनता और सरकार के बीच की कड़ी के रूप में प्रशासन की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। जहाँ तक हमारे देश में पर्यावरण की नीति का सवाल है, यह एकमत से स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारी पर्यावरण नीति हमारी प्राचीन परंपराओं को ध्यान में रखकर बनाई जाए तो अधिक प्रासंगिक तथा लाभदायक होगी। किंतु इसके पूर्व संपूर्ण जीव जगत विशेषकर मानव जीवन के लिए हर पहलू से अत्यंत महत्वपूर्ण विषय पर्यावरण के संबंध में प्रशासन की भूमिका का आकलन आवश्यक हो जाता है।

भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में जहाँ बहुमत से सरकार चुनी जाती है और जिस देश के लोग एक समाजवादी लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने, अपने समस्त नागरिकों को

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय दिलाने तथा उन्हें प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए अपना संविधान अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं, उस देश में प्रशासन की भूमिका भी हमेशा लोकोन्मुखी होती है। अब यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्यावरण के प्रश्न पर भी प्रशासन का यह दायित्व बनता है कि वे उन अल्पसंख्यक सुविधाभोगियों से देश के वर्तमान कानूनों के अनुसार कड़ाई कर रहे हैं। संक्षेप में भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण से संबंधित नीतियों का निर्धारण निम्न प्रकार से किया जा सकता है

1. अखिल भारतीय स्तर पर “राष्ट्रीय पर्यावरण विकास अभिकरण” का गठन। इस अभिकरण के संचालक मंडल में निदेशक के अलावा सदस्य के रूप में सभी प्रदेशों/केंद्र शासित क्षेत्रों के प्रांतीय पर्यावरण विकास अभिकरणों के अध्यक्ष शामिल हों। इस राष्ट्रीय अभिकरण को कानून निर्माण, विभिन्न प्रकार के प्रदूषण निर्धारण हेतु परामर्श एवं सहयोग करने के लिए अलग-अलग राष्ट्रीय सलाहकार समितियाँ गठित की जाएँ।

2. प्रांतीय स्तर पर प्रत्येक प्रदेश/केंद्रशासित क्षेत्र का अपना “प्रांतीय पर्यावरण विकास अभिकरण” हो। इन प्रांतीय अभिकरणों में भी राष्ट्रीय अभिकरण की ही तरह हर विषय पर अलग-अलग विशिष्ट सलाहकार समितियाँ हों। प्रांतीय अभिकरणों के संचालक मंडल में अध्यक्ष के अलावा इसकी सभी सलाहकार समितियों के संयोजक और इतनी ही संख्या में प्रांत की पर्यावरण प्रेमी स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाना चाहिए।

3. पर्यावरण न्यायालय का गठन समुचित संख्या में प्रत्येक प्रदेश/केंद्र शासित क्षेत्र में किया जाना चाहिए ताकि पर्यावरण प्रदूषण संबंधीवादों (मुकदमों) का निपटारा शीघ्रता से किया जा सके। कानून के द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि इन पर्यावरणीय न्यायालयों में ही चुनौती दी जा सके।

4. प्रत्येक जनपद के जिलाधिकारी को उनके प्रशासनिक सीमा के अंदर आने वाले क्षेत्र में प्रदूषण के स्तर एवं पर्यावरण की स्थिति पर नजर रखने की जिम्मेदारी सौंपी जानी चाहिए। जिलाधिकारी को स्थायी निर्देश होना चाहिए कि वह अपने जनपद की पर्यावरण प्रेमी संस्थाओं के नियमित संपर्क में रहें।

5. खंडविकास अधिकारी को स्पष्ट आदेश होना चाहिए कि वह अपने क्षेत्र के समस्त ग्राम प्रधानों की त्रैमासिक बैठकें पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर विचारार्थ आयोजित करे और उन्हें इस संबंध में प्रशासन द्वारा किए जा रहे प्रयासों से अवगत कराए। इस व्यवस्था में छात्रों, नवयुवकों, छात्राओं तथा महिलाओं की भागीदारी अनिवार्य है।

इस प्रकार सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि एक श्रृंखलाबद्ध नीति निर्धारण की सहायता से हम अपने देश की पर्यावरण संबंधी समस्याओं का समाधान सफलतापूर्वक कर सकते हैं। हमें यह ध्यान रखना होगा कि हमारे अंदर पारंपरिक,

सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों के प्रति सजगता और संवेदनशीलता की लौ बुझने न पाए। साथ ही विश्व के सभी राष्ट्रों में परस्पर सौहार्द तथा सहयोग की भावना बनी रहे, क्योंकि हमें आवश्यकता है विश्वव्यापी सहयोग की, न कि सहानुभूति की।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी है कि विकास के प्रत्येक कार्यक्रम के दौरान पर्यावरण के स्रोतों और प्रकृति पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों का असर हर मनुष्य पर पड़ता है, चाहे वह आम आदमी हो या कोई विशेष व्यक्ति। अनेक बार आम आदमी इस सीमा तक प्रभावित होते देखे गए हैं कि उनकी रोजी-रोटी तक उनसे छिन गई है। आज इस बात की पहले से अधिक आवश्यकता है कि विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार संशोधित किया जाए कि मनुष्य को सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध कराने के साथ-साथ प्रकृति का संरक्षण भी होता रहे। भारत जैसे विकासशील देशों में तो इस बात की जरूरत और भी तीव्रता से महसूस की जा रही है।

हमें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि हमारे लिए स्थानीय पर्यावरणीय समस्याएँ उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जितना कि अन्य विश्व समस्याएँ वन क्षेत्रों में कमी, उपजाऊ भूमि का हास तथा पीने के पानी की कमी जैसी स्थानीय समस्याओं की गंभीर चिंता होनी चाहिए।

हमारे लिए तत्काल प्राकृतिक पारिस्थितिक प्रणालियों का संरक्षण और उन्हें नष्ट होने से बचाना आवश्यक है, ताकि साँस लेने के लिए साफ हवा, पीने के लिए शुद्ध जल, खाने के लिए अप्रदूषित खाद्य, चिकित्सा के लिए उपयुक्त औषधियाँ, रहने के लिए उपयुक्त स्वास्थ्यप्रद सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हो सकें। स्वच्छ पर्यावरण के लिए अपनाए जानेवाले उपायों में वायु और जल-प्रदूषण सहित सभी प्रदूषणों को रोकने के कानूनों को सख्ती से लागू करने, औषध नियंत्रण, खाद्य-पदार्थों में मिलावट नियंत्रण, कीटनाशी पदार्थों से संबंधित कानूनों के कड़ाई से अनुपालन करने, कारखानों से वाहित स्रावित अनुपचारित अपशिष्टों को जलस्रोतों में न छोड़ने देने सहित सभी नियमों को तात्कालिक प्रभाव से व्यवहार में लाना सम्मिलित है।

पर्यावरण विभाग को दिए गए और अधिक अधिकारों से प्रदूषण नियंत्रण में अवश्य ही मदद मिली है। फील्ड स्टेशनों के माध्यम से वायु और जल के नियमित मॉनीटरिंग में भी सहायता मिली है। विभिन्न पाठ्य-क्रमों में पर्यावरणीय शिक्षा को शामिल करने से विद्यार्थियों में तथा प्रदर्शनियों, मेले इत्यादि के आयोजन से आम लोगों में पर्यावरण के प्रति एक चेतना जाग्रत हो रही है। अपशिष्टों के पुनर्चक्रण की योजना, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के उपयोग की योजना, वन्य जीव संरक्षण की योजना, सामाजिक वानिकी इत्यादि प्रयासों से हम पर्यावरणीय प्रदूषण के नियंत्रण के अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं।

उपर्युक्त सभी उपायों या संस्तुतियों के अतिरिक्त आज इस बात की महती आवश्यकता है कि राष्ट्रीय योजनाएँ बनाते समय, पर्यावरणीय वास्तविकताओं को

ध्यान में रखा जाए। वैज्ञानिकों और प्रौद्योगिकीविदों पर इस बात का विशेष उत्तरदायित्व है। वैज्ञानिक ही मनुष्य के कार्य-कलापों से प्रकृति को होनेवाली हानि के प्रति आम आदमी में चेतना उत्पन्न कर सकते हैं। स्वयं वैज्ञानिकों को भी इस बात के लिए सजग रहना है कि देश की आर्थिक प्रगति करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप जीवन को धारण करनेवाली प्रणालियों और स्रोतों जैसे मिट्टी, जल और आनुवांशिक विविधता आदि की हानि न हो।

किसी भी समस्या के निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए उत्तरदायी कारणों का पता लगाया जाए। ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा में वृद्धि के लिए विकसित देशों का योगदान विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत विकासशील देशों की तुलना में कई गुना अधिक है। इसके बावजूद अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में विकासशील देशों को ही इन समस्याओं के लिए अधिक जिम्मेदार ठहराया जाता है। एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप से कुछ भी हासिल होनेवाला नहीं है। सबसे स्पष्ट और महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिव्यक्ति ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों के उपभोग में कमी के बिना कोई समाधान निकलनेवाला नहीं है।

पर्यावरणीय प्रभाव एवं जोखिम मूल्यांकन के संदर्भ में इन पदार्थों के पारिस्थितिकीय और पर्यावरणीय प्रभाव के निरंतर मूल्यांकन की आवश्यकता है, जिससे उच्च लागतवाली तकनीकी के विपरीत पर्यावरणीय प्रभावों से बचा जा सके। जलवायु संबंधी पर्यावरणीय समस्याओं का मुकाबला करने के लिए स्थान विशेष, क्षेत्र-विशेष तथा पारिस्थितिकी-तंत्र विशेष पर्यावरण प्रबंधन की आवश्यकता है।

प्रकृति और संस्कृति

किशोरीलाल व्यास 'नीलकंठ'*

मानव सभ्यता के विकास का उदात्त सोपान ही संस्कृति है। आदिम मानव से आज तक मानव समुदायों ने खान-पान, रहन-सहन, नृत्य-गान-उत्सव, कला सर्जना, चिंतन-मनन, आचार-व्यवहार, धर्म-आचार-अध्यात्म आदि से संबंधित जिन मान्यताओं को विकसित किया, सँजोया एवं परंपराओं के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया, वे ही संस्कृति के मूलभूत तत्त्व हैं।

किसी जाति द्वारा विकसित जीवन-विधान संस्कृति के उपादान हैं। प्रत्येक विशिष्ट मानव समुदाय, जाति, भौगोलिक परिवेश से आबद्ध मान्यताएँ संस्कृति का अंग हैं।

सभ्यता मानव का भौतिक विकास है, साधन-संपन्नता का प्रयास है तो संस्कृति उसका मानसिक-आत्मिक विकास है। सभ्यता बुद्धि एवं तर्क प्रधान है, तो संस्कृति श्रद्धा एवं आस्था से परिपूर्ण होती है।

संस्कृति वस्तुतः स्थायी जीवन-मूल्यों की खोज और उनके संचयन का उदात्त प्रयत्न है।

ज्ञान विज्ञान का विकास, भौतिक संसाधनों एवं उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन, संचार एवं परिवहन के साधनों का विकास जहाँ सभ्यता को सूचित करता है, वहीं नैतिकता की खोज, मानवीय संवेदनाओं का प्रसार, कला-कौशल, साहित्य-संगीत-नृत्य आदि लालित्यपूर्ण क्रिया-कलाप संस्कृति के अंग हैं।

सभ्यता बुद्धिप्रधान, तर्कप्रधान होती है, विवेकहीन होती है; अतः वह अपने विकास की राँ में सभी को रौंदती चली जाती है। सभ्यता अपने चरम उन्नत क्षणों में संवेदन शून्यता की ओर ले जाती है। समृद्धि की खोज में वह सारा विवेक भूल जाती है। वनों को, जल संसाधनों को, धरती को सभी को नष्ट-भ्रष्ट करती एक विशाल युद्धटैंक-सी धड़धड़ाती चल पड़ती है। उसकी संवेदनाएँ कुँठित हो जाती हैं; कलात्मकता क्षीण हो जाती है।

* डॉ. किशोरीलाल व्यास नीलकंठ, पूर्व अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, उस्मानिया वि.वि. हैदराबाद।

आज मानव जाति इसी उपभोक्तावाद के अतिरेक से गुजर रही है। आज यह प्रश्न बार-बार बुद्धिजीवियों को सता रहा है औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, उपभोक्ता वस्तुओं का बेरोकटोक उत्पादन, प्रकृति का निरंकुश दोहन आखिर विकास के लिए है या विनाश के लिए?

मानव अपने विकास की रफ्तार में सारे सकारात्मक जीवन-मूल्यों को रौंदता, नष्ट-भ्रष्ट करता चला जा रहा है।

मानव की पाशविक वृत्तियों का उदात्तीकरण ही संस्कृति है। 'आहार', निद्रा, भय, मैथुन जैसी पशु और मानव की सामान्य वृत्तियाँ प्रकृति प्रदत्त एवं संचालित होती हैं। मनुष्य इन वृत्तियों का परिष्कार करता है। इसके लिए 'संस्कार' साधन बनते हैं। इन सहज प्राकृतिक वृत्तियों के दमन द्वारा नहीं, उदात्तीकरण द्वारा ही मनुष्य मानव बनता है। सभ्यता पर संस्कृति विवेक का अंकुश लगाती है। संस्कृति शताब्दियों से संचित मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति अनेक रूपों में, अनेक प्रकार से होती है। इसकी अभिव्यक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं। यथा :

1. ग्रामीण संस्कृति, 2. जनजातीय संस्कृति (गिरिजन आदिवासी, वनवासी संस्कृति), 3. अरण्य संस्कृति, 4. जातीय संस्कृति, 5. आंचलिक संस्कृति, 6. राष्ट्रीय संस्कृति और, 7. वैश्विक संस्कृति।

लोक-कलाओं एवं शिष्ट कलाओं के रूप में इनकी अभिव्यक्ति और विकास सतत होता रहता है। भरतनाट्यम्, कुचिपुड़ी, गरबा, डाँडिया, कथकली, मणिपुरी नृत्य, भाँगड़ा, रासलीला और अनेकानेक उत्सव, त्यौहार और आचारबद्ध नृत्य, ये अनेकानेक एकल एवं सामूहिक नृत्य जीवन के उत्साह को व्यक्त करते रहते हैं, जीवन की एकरसता तो तोड़ते हैं। वस्तुतः हमारा समग्र जीवन ही उत्सव है। भारतीय जनजीवन और त्यौहारों का संबंध ऋतुओं के बदलाव के साथ जुड़ा है।

भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को जगत के केंद्र में नियंत्रक के रूप में नहीं, सेवक और संरक्षक के रूप में स्थापित किया। जगत् के शेष प्राणियों की रक्षा करना, उनके हितों की रक्षा करना, अकारण उन्हें न मारना आदि बातें हमारे दैनंदिन जीवन का अंग हैं। हमारे किसानों के घरों में आज भी गाय, बैल, भैंस आदि पूरी आत्मीयता पाते हैं। वे घर के एक अंग होते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने तो पीपल, वट आदि वृक्षों के नीचे बैठकर अपनी चेतना को शेष जगत की चेतना के साथ जोड़ने की कला का विकास किया। यही योग है। सकल चराचर जगत से आत्मीय संबंध स्थापित करना ही योग है।

जगत के सारे प्राणियों के साथ एकात्म भाव साधकर ही हम उस बृहत्तर चेतना के साथ एक हो सकते हैं, जो इस जगत का संचालन-परिचालन कर रही है। यही भावना हमें सहज मानवीय बनाए रखती है। यही वह भावना है, जो हमें जगत के सारे प्राणियों से जोड़ती है। यही हमारी अस्मिता है। यही हमारी संस्कृति का सार है। जीवन का महत्त्व अधिक खाने, पीने, उपभोग करने में नहीं, अपितु प्रकृति के उपादानों के साथ एकाकार होने तथा उनके भीतर अंतर्निहित सौंदर्य का साक्षात्कार करना है।

सामान्यतः संस्कृति संस्कारों की योजना है। मानव अपने जीवन को सुखमय और सरल बनाने के लिए अनेक उपकरणों का सर्जन करता है। उसकी सर्जनात्मक बुद्धि शनैः-शनैः विकसित होती है, फलतः विभिन्न कोटि की अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। मानव मन की यह सर्जनशीलता ही संस्कृति का मूल मानी जाती है। इससे स्पष्ट हुआ कि सर्जनात्मक अभिव्यक्ति ही संस्कृति है। यही सर्जनात्मकता बाह्य वास्तविकताओं और आंतरिक जीवन, दोनों में ही व्याप्त रहती है। प्रथम दशा में यह मनुष्य की भौतिक उपयोगिता में आंतरिक जीवन को विकसित और समृद्ध करती है। आत्मसंतोष और शांति के लिए आत्मिक अनुचिंतन संस्कृति के स्रोत हैं। इस विवेचन के आधार पर 'संस्कृति' को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है :

“वह अनुचिंतन, जिसमें मनुष्य के आत्मिक जीवन का विस्तार और मानसिक विकास एवं बौद्धिक समृद्धि होती है, संस्कृति है।”

“संस्कृति” जीवन का संस्कार है, जिससे मानव की पाशविक प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा स्वार्थ का परित्याग होता है। जो व्यक्ति अपने लिए जितना जीता है, उससे अधिक मानव जाति अथवा राष्ट्र की मंगल कामना करता है, वही सुसंस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति परिष्कार और परिशोधन का भाव भी व्यक्त करती है।

सुप्रसिद्ध लेखक डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने 'संस्कृति' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है :

“संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम् उपसर्ग के आगे कृति अथवा कार शब्द जोड़ देने पर इसके फलस्वरूप सम् + कृति = संस्कृति तथा सम् + कारः = संस्कारः आदि शब्दों की निष्पत्ति का विधान होता है।”¹

इस प्रकार 'संस्कार' के अर्थ हुए पूरा करना, सुधारना, सज्जित करना, माँजकर चमकाना, शृंगार, सजावट। संस्कार तथा 'संस्कृत' शब्द संस्कृत साहित्य में बहु प्रयुक्त हैं पर 'संस्कृति' का प्रयोग नहीं।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. देवराज ने इसको इस प्रकार परिभाषित किया है :

“संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किंतु अर्थवती छवियों से, फिर वे छवियाँ चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, संबंधित करता है। संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं, जिसका सार्वभौम उपयोग या स्वीकार हो सकता है और जिसका विषय वस्तुसत्ता के वे पहलू हैं, जो निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान हैं।”²

जीवन में सातत्य है, निरंतरता है और प्रगति है। इन तत्त्वों के साथ एकात्मकता की साधना ही संस्कृति है। स्पष्ट रूप से संस्कृति का संबंध संस्कार से है, अतः सभ्यता और संस्कृति-परस्पर एक-दूसरे से संबद्ध हैं। एक सीमा तक एक-दूसरे पर निर्भर भी हैं और पूरक भी। सभ्यता का आंतरिक प्रभाव ही संस्कृति है।

जो अनगढ़ है, जिसमें कोई आकृति नहीं, ऐसे पत्थरों से जीवन को आकृति प्रदान करना, उसमें कलात्मक संवेदना जगाना और प्राण-प्रतिष्ठा करना ही संस्कृति है। वस्तुतः संस्कृति उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से मनुष्य प्राप्त करता है। संस्कृति का संबंध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव आदि मनोवृत्तियों से है। संक्षेप में सांस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की मनोवृत्तियों से संबंधित हैं और इन विशेषताओं का अनिवार्य संबंध जीवन के मूल्यों से होता है। ये विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यवान होती हैं अथवा मूल्यों के उत्पादन का साधन। प्रायः व्यक्तित्व में विशेषताएँ साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में अर्थपूर्ण समझी जाती हैं। वस्तुतः संस्कृति सामूहिक उल्लास की कलात्मक अभिव्यक्ति है। संस्कृति व्यक्ति की नहीं, समष्टि की अभिव्यक्ति है।

डॉ. संपूर्णानंद ने कहा है “संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है।” संक्षेप में वह समुदाय की चेतना बनकर प्रकाशमान होती है। यही चेतना प्राणों की प्रेरणा है और यही भावना प्रेम में प्रदीप्त हो उठती है। यह प्रेम संस्कृति का तेजस् तत्त्व है, जो चारों ओर परिलक्षित होता है। प्रेम वह तत्त्व है, जो संस्कृति के केंद्र में स्थित है। इसी प्रेम से श्रद्धा उत्पन्न होती है, समर्पण जन्म लेता है, और जीवन भी सार्थक लगता है।

मानव जीवन उसकी परंपरा तथा उसके परिवेश आदि से संबंधित वस्तुएँ प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः संस्कृति से जुड़ी रहती हैं। एक ओर जहाँ भाषा, कला, साहित्य, विज्ञान आदि संस्कृति से संबद्ध हैं, तो दूसरी ओर परिवेश से संबंधित हैं, समाज, वनस्पति, भूगोल आदि। इन दोनों पक्षों के अतिरिक्त तीसरी ओर धर्म, दर्शन, अंध-विश्वास तथा पौराणिक मान्यताएँ आदि भी संस्कृति से जुड़े हुए हैं, साथ ही परंपरा इतिहास, रीति-रिवाज, खान-पान, वस्त्राभूषण आदि भी इसमें समाहित हो जाते हैं।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है संस्कृति समाज के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन-रूपों की सृष्टि और उनका उपयोग है। संस्कृति शब्द का संबंध किसी निर्दिष्ट समाज के विशिष्ट आचार-विचार, क्रिया-कलाप तथा अनुचिंतन के साथ होता है, जो मानवता के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं और प्रत्येक समाज का चिंतन भिन्न होता है। संस्कृति का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि संस्कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर तथा अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसित करती है। सभ्यता भौतिक समृद्धि है, साधन संपन्नता है, संस्कृति आंतरिक कलात्मक-आध्यात्मिक उपलब्धि है। एक वस्तुगत है, दूसरी भावगत है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर होकर भी, एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं।

वस्तुतः संस्कृति उन गुणों का समुच्चय है, जिन्हें अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से मनुष्य प्राप्त करता है। संस्कृति का संबंध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव आदि मनोवृत्तियों से है और इन विशेषताओं का अनिवार्य संबंध जीवन के

मूल्यों से होता है। ये विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यवान होती हैं अथवा मूल्यों के उत्पादन का साधन। प्रायः व्यक्तित्व में विशेषताएँ साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में अर्थपूर्ण समझी जाती है। सामूहिक उल्लास की कलात्मक अभिव्यंजना ही संस्कृति है। समूह जब त्र्यौहार या प्रकृति के रूप को देखकर उल्लसित होता है, तब वह उसकी अभिव्यक्ति रंगीन परिधान में, गान में, वाद्य यंत्रों द्वारा तथा नृत्य द्वारा करता है।

भारतीय संस्कृति अत्यंत विविधता भरी एवं सामूहिक संस्कृति है। इसका निर्माण सदियों में हुआ है। इसमें अनेक जातियों, ऋषि-मुनियों, चिंतकों तथा जनसामान्य का एवं कलाकारों का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति अरण्य संस्कृति रही है। हमारे पूर्वज प्रकृति के साथ, ऋतुओं के साथ, परिवर्तनों के साथ एकाकार होकर उत्सव मनाते थे।

हमें भारतीय संस्कृति की झाँकी भारत के महिमामय भूगोल, दर्शन, धर्म, संतों की प्यारी भरी किंतु क्रांतिकारी वाणी, लोकपर्व, लोक संगीत और लोक-साहित्य से प्राप्त होती है अथवा यूँ कहना समीचीन होगा कि इनका समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति है।

इस संस्कृति के विकास में जितना उत्तरापथ का योगदान है, उतना ही दक्षिणापथ का भी। साथ ही उतना ही अरण्यवासी जनजातियों का भी। भारतीय संस्कृति के विकास में हम सबका योगदान है। भारतीय जीवन वस्तुतः एक मिश्रित परिवार है, जिसका प्रत्येक सदस्य अपनी विशिष्टता को बिना खोए समष्टिगत एकता को अभिव्यक्त करता है।

अरण्य संस्कृति

भारतीय संस्कृति मूलतः अरण्यों की संस्कृति है। हमारे पूर्वजों ने अरण्यों में रहकर प्रकृति के साथ अंतर्बाह्य तादात्म्य स्थापित किया। पेड़ों-पशु-पक्षियों के साथ गहन आत्मीयता की अनुभूति की। परम विराट सत्ता को प्रकृति के कण-कण में अनुस्यूत देखा। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के अनुसार भारत की संस्कृति मूलतः अरण्य संस्कृति है। यह ग्राम संस्कृति है, न नगर संस्कृति। हमारे दर्शन, साहित्य और संस्कृति का निर्माण अरण्यों में ही हुआ। ऋषि-मुनिगण अरण्यों में रहकर सत्य संधान करते थे। हमारी शिक्षा संस्थाएँ भी शहरों से दूर, आश्रमों में अवस्थित थीं।

‘प्रकृतिः मातृस्वरूपा’ भारतीय संस्कृति में प्रकृति को माता माना गया है। ठीक इसके विपरीत पाश्चात्य संस्कृति में प्रकृति को भोग्या माना गया है। पश्चिम की दृष्टि उपभोग दृष्टि है। इसी कारण धरती का पूरा-पूरा दोहन करना ही उनका उद्देश्य है। पशु-पक्षी-पौधे आदि का निर्माण मनुष्य के लिए ही हुआ है तथा आदमी भी प्रकृति के केंद्र में है ऐसा उनका विश्वास है। इसी कारण जंगलों का सफाया करना, पशुओं को मारकर खा जाना, समुद्रों, नदियों से बड़ी मात्रा में मछलियाँ आदि पकड़ना, धरती की

छाती को छलनी करके खदानों से धातुएँ आदि निकालना इन सभी प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा ये प्रकृति से अधिक-से-अधिक पाना चाहते हैं, और प्रकृति को जीतना ही इनका उद्देश्य है।

संस्कृति मानव-हृदय के सूक्ष्म संस्कारों का समीकरण है। वह राष्ट्रीय जीवन को प्रेरणा प्रदान करनेवाली जीवनी शक्ति है। महाकवि जयशंकर प्रसाद के मतानुसार संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है। सामान्यतः संस्कृति से हम सबका अभिप्राय साहित्य और कलाओं से होता है। संस्कृति की यह भले ही अधिक सुगठित अवधारणा हो, पर संस्कृति इससे बहुत बड़ा क्षेत्र है। यह नहीं है कि साहित्य अपनी विशिष्ट संस्कृति भी विकसित करता है और यह साहित्यिक संस्कृति साहित्य में सक्रिय शक्तियों के बीच संवाद का शील निरूपण करती है।

संस्कृति शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है भूषणभूत सम्यक् कृति। मानव जीवन के लिए लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकार के अभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार संस्कृति है। यह मानव की अच्छी स्थिति या सुधरी हुई स्थिति का द्योतक है। अतः मानव ने अपने चिरंतन विकास को लक्ष्य में रखकर अब तक जो भी कार्य किए हैं, वे संस्कृति के अंतर्गत आते हैं। इस दृष्टि से संस्कृति सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक तत्त्व है। हाँ देश, काल, वातावरण आदि के अनुसार उसके बाह्य स्वरूप में अंतर होना स्वाभाविक है।

संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर है। संस्कृति सुधरी हुई मानसिक स्थिति का द्योतक है, जबकि उसका बाह्य पक्ष या आचरण पक्ष सभ्यता कहलाती है। संस्कृति का बाहर से प्रकाशित होना सभ्यता है। अर्थात् सभ्यता से मानव के रहन-सहन, आचार-विचार की उच्चता, ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति का बोध होता है। संस्कृति एक विश्व-जनीन वस्तु है, उसे खंडों, टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इतना होते हुए भी उस विश्व-जनीन संस्कृति के निर्माण में प्रत्येक राष्ट्र या जाति का जो अमूल्य योगदान है, वह उस राष्ट्र या जाति की संस्कृति स्रोत एकांत तपोवन में फूट पड़ा है, जहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी, मात्र आत्मचिंतन एवं आध्यात्मिक साधना में निरत सर्वसंग परित्यागी, योगी, संन्यासी थे। अन्य संस्कृतियाँ नगरों की उपज हैं। एकांत तपोवनों की निसर्ग सिद्ध प्रकृति ने साधना-निरत हमारे ऋषियों, मुनियों, योगियों को जो ज्ञान-ज्योति दी, वही हमारी संस्कृति का आधार है। विश्वबंधु तपस्वी कर्वींद्र ने भारत को महामानव समुद्र की संज्ञा दी है। हमारी देश-व्यापी स्तुति में मातृभूमि की कल्पना गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, गोदावरी, कावेरी सप्त नदियों के देश के रूप में हुई। ‘जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ हमारी संस्कृति का आप्त वाक्य रहा। भारतीयों की सप्त पुण्य पुरियाँ देश के चारों कोनों में फैली हुई हैं और सबको मोक्षदायिका माना गया है।

अयोध्या मथुरा गया काशी कांची अवंतिका।

पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तेते मोक्ष दायकः॥

भारतीय संस्कृति अपने समन्वयवाद एवं सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। इनका दृष्टिकोण पहले आध्यात्मिक रहा, क्योंकि इसका मूल धर्म है और धर्म वह है, जिसमें धारण करने की क्षमता हो। धर्ममूलक एवं आध्यात्मिक चिंतन से ओत-प्रोत इस संस्कृति में दृष्टिगोचर प्रपंच के पीछे एक चिरंतन सत्ता की खोज की ओर उसी को नियामक एवं संचालक सत्ता मानकर उसके सम्मुख आत्म-समर्पण का सनातन संदेश दिया। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने हमारी संस्कृति को बहुत कुछ अंतर्मुखी बना दिया तथा संसार के क्षणिक एवं नाशवान माया-मोह से विरत हो चिरंतन आत्मा को पहचानने तथा समस्त चराचर जगत् में उस आत्मा के स्पंदन को अनुभव करने का मोहक संदेश प्रदान किया। इसी अध्यात्मवाद ने हमें समन्वयवादी एवं समदर्शी बनने की प्रेरणा दी। 'आत्मनं विजानीहिं' (अपने को पहचानो) का चिरंतन संदेश केवल भारतीय संस्कृति की देन है। नानात्व में एकत्व का यह दर्शन इस संस्कृति को एक सार्वभौम संस्कृति का रूप प्रदान करता है। हमारी संस्कृति की यह मान्यता रही कि संपूर्ण सृष्टि एक ही परमतत्त्व से उद्भूत है, उसी में अवस्थित है और मृत्यु के रूप में उसी में विलयन को प्राप्त करती है। वेदों ने एक ही सत्यस्वरूप भगवान की प्रतिष्ठा करके 'वसुधैव कुटुंबकम्' का प्रचार किया। इस आदर्श ने समस्त विरोधी तत्त्वों को आत्मसात करने की व्यापक दृष्टि तथा सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया।

भारतीय संस्कृति मनुष्य-मनुष्य में समता, एकता एवं भ्रातृत्व का प्रचार करती आई है। वह देह तथा दैहिक सुख-दुःखों को क्षणिक एवं तात्कालिक मानती है तथा मानव को इस लौकिक जगत के परे के सार्वभौम जीवन की आशा रखने की प्रेरणा भी देती है। भारतीय संस्कृति को युगानुरूप बनाना आवश्यक है, अकेला अध्यात्मवाद और अकेला भौतिकवाद दोनों एकाकी हैं। दोनों के समन्वय पर ही जीवन की परिपूर्णता निर्भर है। अतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान परमावश्यक है। पश्चिमी देशों की वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक दृष्टिकोण को निरस्त-अवमानित नहीं किया जा सकता। उससे अपने को परिचित रखने और उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने की आवश्यकता है। जब हमारा अध्यात्मवाद पश्चिमी भौतिकवाद के उपयोगी तत्त्व को आत्मसात कर आगे बढ़ेगा, तब हमारी संस्कृति का युग सापेक्ष एवं मानव मंगलकारी स्वरूप अभिव्यक्त होगा। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के उभय तत्त्वों के संतुलन में हमारी संस्कृति की परिपूर्णता प्रकट होगी।

सौंदर्य-बोध संस्कृति की बुनियाद है। चूँकि सौंदर्य का प्रमुख आधार कलाएँ हैं, इसलिए कलात्मक सृजन से संबंधित तमाम मानव सक्रियताएँ संस्कृति की अनिवार्य अंग मानी जाती हैं। इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि जिस जाति का सौंदर्य-बोध जितना ज्यादा सूक्ष्म होगा, वह उतनी ही ज्यादा सुसंस्कृत होगी। यह सही कहा गया है कि हर समय में समाज में दो संस्कृतियाँ रहती हैं एक वह, जो गहरी प्राणवत्ता से, मनुष्य के अस्तित्व और उसकी नीति और जाति-जीवन से अपने को

प्रतिबद्ध करती है और दूसरी वह, जो कामचलाऊ होती है और वर्तमान में ही सफलता को अपना अभिष्ट मानती है। स्पष्ट ही यह दूसरी संस्कृति अपसंस्कृति है, जो जातीय जीवन की विशिष्टता को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके सौंदर्य-बोध को विकृत करती है, जिसके परिणामस्वरूप जातीय जीवन की बुनियादी तेजस्विता के मंद पड़ जाने का खतरा पैदा हो जाता है। संस्कृति को अभिजन संस्कृति तथा लोक-संस्कृति के रूप में विभाजित करके भी देखा-परखा गया है। यह कहना बहुत हद तक सही है कि किसी जाति की संस्कृति की धारा का प्रमुख वहाँ का लोक-जीवन ही होता है, क्योंकि लोक-जीवन और उनकी संस्कृति बहुसंख्यक वर्ग की सामूहिक ऊर्जा का स्रोत होती है। लोक-जीवन का रस ही समाज की जड़ों को सींचता है, आज हम जिन मानव-मूल्यों की पड़ताल कर रहे हैं।

उपभोक्तावादी पाश्चात्य संस्कृति के विपरीत भारतीय संस्कृति प्रकृति के साथ सहयोग और सह-अस्तित्व में विश्वास रखती है, उसके साथ संघर्ष में नहीं।

Indian culture believes in co-operation and co-existence with Nature and not in confrontation, like western consumeristic world.

भारतीय वेदांत ने प्रकृति के सारे प्राणियों में उस परम सत्ता के दर्शन किए। अतः छोटे-से-छोटे पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि को अकारण मारना या उसका अहित करना वर्ज्य माना गया। केवल चेतन पदार्थों में ही नहीं, अचेतन पदार्थों यथा पर्वतों, नदियों, जलाशयों, सरोवरों आदि को भी ईश्वरीय विभूति का अंश मानकर, उनकी रक्षा का प्रयत्न किया गया।

प्रकृति के कण-कण के साथ एकात्मकता का अनुभव करना तथा उसे यथासंभव कम-से-कम हानि पहुँचाना भारतीय जीवन का आदर्श रहा। इसी कारण प्राचीन भारत के लोग अल्प संतोषी थे। जहाँ अधिक पाने की, जमा करने की, उपभोग की इच्छा बलवती हुई, वहीं प्रकृति के संसाधनों का दोहन शुरू होता है। प्रकृति से हम उतना ही ग्रहण करें, जिससे कि उसका रूप विकृत न हो। प्रकृति में पुनर्नवीकरण की अद्भुत क्षमता है। जंगल में से आवश्यकतानुरूप दस-बीस पेड़ काट लिए जाएँ, तो प्रकृति उन्हें फिर उगा लेती है। पर यदि पूरा जंगल ही काट दिया जाए, तो महाविनाश के अतिरिक्त क्या बचा रह सकता है। रेगिस्तानों का विस्तार, विनाशकारी-प्रलयकारी बाढ़ें, भयंकर सूखा एवं अकाल, ऋतु चक्रों का व्यतिक्रम, वातावरण में गर्मी की बढ़ना, समय पर वर्षा न होना विचित्र बीमारियों का फैलना आदि मनुष्य की इन्हीं हृदयहीन बुद्धिरहित क्रियाओं का परिणाम है। वृक्षों और पशु-पक्षियों का संबंध हमारी धार्मिक आस्थाओं, विश्वासों, हमारे व्रत-त्यौहारों तथा हमारे रीति-रिवाजों से गहराई से जुड़ा है। संभवतः पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ ही यह आस्था जुड़ी है। मनुष्य के मरने के बाद उसकी आत्मा किसी भी योनि में जन्म ले सकती है। संभवतः किसी पशु के रूप में भी। अतः हम सारे पशु-पक्षियों का सम्मान करते हैं।

प्राचीन पुराणों की कथाएँ देवताओं, मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों के अतःसंबंधों से भरी पड़ी हैं। विष्णु के अवतारों में मत्स्य, कूर्म, वराह आदि भी हैं। श्रीराम के विश्वस्त सहायक एवं भक्त वानरराज हनुमान आज भी हिंदू आस्था के केंद्र बिंदु हैं। अपने उच्च गुणों के कारण, हिंदू आस्था के अनुसार, पशु भी देवत्व का भागी बनकर पूज्य बन सकता है। ऐसा उदाहरण विश्व की अन्य संस्कृतियों में नहीं मिलता।

हमारे बहुत से त्यौहार ऐसे हैं, जिनमें वृक्षों की पूजा-आराधना का विधान है। 'वट सावित्री' में वट वृक्ष की पूजा की जाती है। तुलसी पूजन तो आज भी हिंदू दैनिक जीवन का एक अंग है। विवाह के बाद शमीदर्शन एवं पूजन का अनिवार्य विधान है। गर्भवती नारी को आम तथा वट आदि वृक्षों के पत्तों से युक्त कलशों के जल से नहलाने का प्रचलन है। वट वृक्ष भारतीय नारियों के लिए दीर्घ जीवन और सुहाग का प्रतीक है। सत्यवान के मृत शरीर को सावित्री वट-वृक्ष के नीचे रखकर यमराज के पीछे-पीछे गई थी तथा अपने पति के प्राणों को पुनः प्राप्त करने में सफल हुई थी।

गौतम बुद्ध के प्राणों की रक्षा सुजाता ने वट वृक्ष के नीचे ही पायस खिलाकर की थी। सिद्धार्थ से बुद्ध बननेवाले गौतम को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति वट वृक्ष (बोधिवृक्ष) के नीचे ही हुई थी। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक मान्यता है कि पीपल, वट, उदुंबर आदि कुछ वृक्षों के चारों ओर आध्यात्मिक चेतना का एक वलय विद्यमान होता है, जो उसके नीचे बैठकर साधना करनेवाले को सहज ही परमतत्त्व की प्राप्ति कराने में सहायक होता है। इसी कारण भारतीय जीवन में वानप्रस्थ एवं संन्यास में वन-गमन का विधान है। वन केवल वस्तुओं के संग्राहक एवं प्रदाता ही नहीं, आध्यात्मिक मूल्यों और जीवन-सत्त्वों के भी संरक्षक हैं। ऐसे वनों का, निहित स्वार्थपूर्ति हेतु विनाश कर, क्या हम अपने ही पैरों पर कुठाराघात नहीं कर रहे हैं?

प्राचीन भारतीय-जन-मानस मानवेतर संवेदनाओं से गहन रूप से परिचित था, क्योंकि अन्य संस्कृतियों की तरह उसने सारे विश्व को 'मानव के लिए निर्मित' नहीं माना, प्रस्तुत मानव को सृष्टि का ही एक चेतन अंग माना।

महाभारत में भीम को युधिष्ठिर ईंधन की लकड़ी के लिए सजीव वृक्षों को काटने के बदले, सूखे वृक्षों से काष्ठ-संचयन करने का आदेश देते हैं।

*आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिवृक्षाति गृह्यताम्।*

महाभारत।

*पातुं न प्रथमं व्यवस्थलि जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।*

शाकुंतलम्।

कालिदास की शकुंतला तो वनबाला है। वह भीषण गर्मी में भी अपने प्रिय-पौधों एवं लताओं को कुएँ से जल खींचकर पिलाने से नहीं थकती। उसे फूलों

से वेणी सजाना बहुत पसंद है, फिर भी यह सोचकर कि फूलों को तोड़ने से पेड़ों को कष्ट होगा, वह पुष्प नहीं तोड़ती। इतनी कोमल संवेदना विश्व के किस साहित्य में, किस संस्कृति में मिलेगी?

समस्त जगत् के पशु-पक्षियों के जीवन के आधार ये हरे-भरे पेड़-पौधे ही हैं। इन पौधों में ही पर्णहरित पाया जाता है, जिसके कारण वे भोजन का स्वतः निर्माण कर सकते हैं। हमारा पूरा जीवन ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वृक्षों पर आश्रित है। अतः वृक्षों के इस उपकार को हम न भूलें। महाभारत में युधिष्ठिर भीम से कहते हैं कि जो वृक्ष हमें शीतल छाया प्रदान करते हैं, उनके उपकार को ध्यान में रखकर उनका एक पत्ता भी अकारण नहीं तोड़ना चाहिए।

यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छाया समाश्रयेत न तस्य पर्णं दुह्येत मनुस्मरन।

महाभारत

हमारे धर्मग्रंथों में, शास्त्रों में, आचारों में एवं लोक-जीवन में सारे पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों के संरक्षण का विधान है। आज से दो सौ वर्ष पूर्व जोधपुर रियासत के एक गाँव के लोगों ने राजा द्वारा भेजे गए लकड़हारों को अपने गाँव के पेड़ों को काटने से रोका। क्रोधित राजा ने सैनिकों को भेजा। तब ग्रामवासियों ने पेड़ों से चिपककर अपनी जान दे दी, पर पेड़ों को न काटने दिया। अमृता देवी ऐसी पहली स्त्री थी, जो सैनिकों की तलवार द्वारा कटकर गिरी। बाद में सैनिकों ने 273 निहत्थे लोगों को काट डाला! राजा को जब इस घटना का पता चला, तो अपने दुष्ट कृत्य पर बहुत पछताया और ग्रामवासियों से क्षमा माँगी। उस गाँव में आज भी प्रतिवर्ष मेला लगता है। विश्व की किसी भी संस्कृति में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि लोगों ने पेड़ों को बचाने के लिए आत्म-बलिदान दिया हो।³

यूरोप की जातियों ने आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि देशों में जाकर पशु-पक्षियों का जो संहार किया, जंगलों का जो विनाश किया, वहाँ की आदिम जातियों को जिस अमानवीयता से समाप्त किया, यह सब जानकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आज भी विश्व में पर्यावरण की समस्याएँ अधिकांशतः इन्हीं देशों द्वारा पैदा की हुई हैं। सारी पृथ्वी मानो, विषाक्त गैसों, प्रदूषित जल-भंडारों, अवाञ्छित विकिरणों और रसायनों से त्राहि-त्राहि कर उठी है।

आज हमारा देश भी इसी प्रवृत्ति का शिकार हो रहा है। हम भी धीरे-धीरे पेड़, पौधे, पशु-पक्षियों की अस्मिता भूल गए हैं। हम पेड़ को सिर्फ इमारती लकड़ी या ईंधन-चारे के रूप में ही देखने के आदी होते जा रहे हैं। पशुओं को सिर्फ माँस भक्षण की दृष्टि से ही देखा जाता है। हमारी यह उपभोक्तावादी दृष्टि हमारे लिए विनाशकारी सिद्ध होगी, क्योंकि इस पृथ्वी पर हमारी ही तरह अन्य पशु-पक्षियों को भी रहने का, जीने का और स्वच्छंदता का अधिकार है। पशु-पक्षियों एवं पेड़ों का नाश कर हम प्रकृति चक्र को तोड़ रहे हैं। प्रकृति में अंतर्निहित गहन एवं सूक्ष्म अंतःसंबंधों को

समाप्त कर रहे हैं। इसका दुष्परिणाम हमें ही नहीं, हमारी आनेवाली पीढ़ियों को भी भुगतना पड़ेगा।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम पुनः प्रकृति के प्रति हमारी प्राचीन सौहार्दपूर्ण दृष्टि का विकास करें। जिएँ और जीने दें। इसी में सभी का कल्याण निहित है। हम प्रकृति से जितने दूर होते जा रहे हैं, उतने ही दुःखी होते जा रहे हैं। प्रकृति हमारी माता है, माताओं की माता है। ऋग्वेद में कहा गया है 'माता पृथ्वी पुत्रोऽहं पृथिव्या'।

मातृभाव के कारण ही हमारे पूर्वजों ने प्रकृति का संरक्षण किया। जितना लिया, उससे दुगुना, तिगुना दिया। एक पेड़ काटा तो दस पेड़ लगाए। नदियों को, सरोवरों को, तालाबों को स्वच्छ रखा। सरोवर हमारी पारिस्थितिक धरोहर हैं। वर्षा-जल संचयन का यह एक उत्तम तरीका है। प्राचीन काल में सरोवर निर्मित करना और पेड़ लगाना बड़ा ही पुण्य कार्य समझा जाता था।

पेड़ पुत्र की तरह होता है। बुढ़ापे का सहारा होता है। थके-हारों को छाया देता है। चारा, फूल, फल देता है, ईंधन देता है और सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु 'प्राणवायु' देता है।

मनुष्यों के बिना वृक्ष जी सकते हैं, पर वृक्षों के बिना मनुष्य नहीं जी सकता। सारे प्राणियों का जीवनाधार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'वृक्ष' ही हैं। वृक्ष मिट्टी का संरक्षण करते हैं। उसे उपजाऊ बनाते हैं।

जंगलों से ही बादल बनते हैं। बादलों से वर्षा होती है। वर्षा से पेड़-पौधे पनपते हैं। फूल, फल और विविध फसलें पैदा होती हैं। जब वर्षा ऋतु आती है तो सारी प्रकृति आनंद से झूम उठती है। रिम-झिम, रिम-झिम बरसात में मोर नाच उठते हैं, कोयल, दादुर और पपीहे बोलने लगते हैं। मेढक टरनिं लगते हैं। झींगुर गाने लगते हैं। सारी प्रकृति नर्तन कर उठती है, जहाँ जंगल अधिक होते हैं, वहाँ बरसात भी अधिक होती है। जहाँ वर्षा अच्छी होती है, वहाँ सुख, शांति और समृद्धि होती है। अतः प्रकृति का उदात्त स्वरूप ही संस्कृति है।

संदर्भ

1. लोक संस्कृति की रूपरेखा, सन् 1988, पृ. 10।
2. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 173।
3. राजस्थान की जोधपुर रियासत का खेजड़ी ग्राम। इसी बलिदानी गाथा से प्रेरणा लेकर हिमालय की महिलाओं ने 'चिपको आंदोलन' सन् 1976 में आरंभ किया और जंगलों को कटने से बचाया।

गाँधी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा : वैश्विक परिदृश्य में इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता

विजय कुमार

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि।

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधि गच्छति।। मनुस्मृति 12/91

सर्व भूत हिते रताः गीता 5/25, 12/4

इतिहास के विभिन्न कालखंडों से ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनके महत्त्वपूर्ण अवदान के अभाव में इतिहास का अपने देश और विश्व में वह स्वरूप नहीं होता, जो वर्तमान में है। गाँधी एक ऐसे ही अनूठे व्यक्ति थे। मनुष्य और उसकी मानवता में उनका विश्वास अटूट था और वह कहते थे कि "व्यक्ति अपने द्वारा प्रतिपादित पद्धति से श्रेष्ठ है।"¹ वास्तव में "राम से बड़ा राम का नाम" है। गाँधी अपने जीवन-काल में ही महान बन गए। शांति, समन्वय, स्नेह, सहिष्णुता, सद्भाव और सदाचार के प्रतीक के रूप में उन्हें 'महात्मा'² कहा गया तो भारत की स्वतंत्रता का महानायक होने के कारण अपने युग के महान क्रांतिकारी सुभाषचंद्र बोस ने उन्हें 'राष्ट्रपिता' की उपाधि दे दी।³

गाँधी अपने व्यक्तित्व, चरित्र, व्यवहार और विचार में पश्चिमवासियों के लिए हमेशा एक अबूझ पहली बने रहे। 'लाइफ' पत्रिका की संवाददाता मार्गरेट-बुर्क-ह्वाइट ने, अपनी पुस्तक 'हाफ-वे टू फ्रीडम' में स्वीकार किया है कि उसे अपना "दो वर्षों का अधिकांश समय इस निर्विवाद महानता को 'आत्मगत' करने में लगाना पड़ा।"⁴ उस काल के वायसरायों, भारत के सचिवों, ब्रिटिश अधिकारियों और अन्य पश्चिमी संस्कृति में पले-बढ़े भारतीयों के लिए भी गाँधीजी अंत तक एक पहली बने रहे। उनको समझने में उनकी संस्कृति ही सबसे बड़ी बाधा थी। आखिर पश्चिम के लोग

* प्राचार्य एवं निदेशक, क्षेत्रीय अध्ययन केंद्र, ति. माँ. भागलपुर वि.वि. भागलपुर 812007 (बिहार);
मो. : 09939941971; ईमेल vijayrai1953@yahoo.com

उस राजनीतिक नेता को कैसे समझ सकते थे, जो उनके लिए 'अधनंगा फकीर' था, एक लँगोटी पहनता था, बकरी का दूध पीता था, 'आत्मा की आवाजें' सुनता था और राजनीतिक समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए उपवासों और सत्याग्रहों का सहारा लेता था।⁵

पंजाब के राष्ट्रवादी नेता ने सच ही लिखा था, "...उनकी दृष्टि में वह बर्बर और कल्पनाप्रिय और स्वप्नलोक में रहनेवाले हैं। उनमें शायद इन सभी गुणों के अंश हैं, क्योंकि वे जीवन की सच्चाइयों के निकटतम हैं और सभ्यता और कृत्रिमता का चश्मा लगाए बिना सामान्य आँखों से देख सकते हैं।"⁶ यही गलती भारतीय परिवर्तनवादी, समाजवादी, साम्यवादी और जनतंत्रवादी भी करते रहे हैं, क्योंकि वह उनके अध्यात्मवादी मुहावरों के भीतर नहीं झाँक पाते, उनके संतत्व की भाषा और उसके अंदर समाहित भारतीय संस्कृति की विरासत को नहीं समझ पाते, जिसे देश की सामान्य जनता आसानी से समझ पाती है।

गाँधी ने चौबीस वर्ष की आयु में 1894 में राजनीति में प्रवेश किया और अगले 50 वर्षों तक उनके जीवन में मुश्किल से ही कोई ऐसा समय रहा होगा जब वे तूफान के केंद्र में न रहे हों। लेकिन अधिकतर राजनीतिज्ञों के विपरीत गाँधी ने राजनीति को यह अवसर नहीं दिया कि वह उनकी मनुष्यता को निगल जाए।⁷ रवींद्रनाथ ठाकुर ने एक बार गाँधीजी के बारे में कहा था कि वे अनिवार्य रूप से मानवों के प्रेमी हैं, विचारों के नहीं। उनके राजनीतिक गुरु गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की लाहौर बैठक में, 1909 में कहा था "श्री गाँधी उन लोगों में से एक हैं, जो अपने अशक्त भाइयों की आँखों को जैसे एक जादू से छूते हैं और उन्हें एक नई दृष्टि देते हैं। वह मनुष्यों के बीच एक मनुष्य, वीर पुरुषों के बीच एक वीर पुरुष, देशभक्तों के बीच एक देशभक्त हैं और हम कह सकते हैं कि वर्तमान भारतीय मानवता ने उनके रूप में एक ऊँचा स्तर प्राप्त किया है।"⁸

गाँधी विश्व के महान क्रांतिकारी माने जाते हैं। उन्होंने अपने जीवन-काल में तीन क्रांतियों का पोषण और नेतृत्व किया - रंगभेद की नीति के विरुद्ध क्रांति, साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांति और हिंसा और गरीबी के विरुद्ध संघर्ष। दो क्रांतियों की सफलता तो उन्होंने अपने जीवन में ही देख ली, लेकिन तीसरी क्रांति आज भी गतिशील है।⁹ यहीं नहीं आज के वैश्विक युग की समस्याओं के निदान के लिए भारत ही नहीं संपूर्ण विश्व गाँधी की तरफ देख रहा है। गाँधी विश्व की अनेक समस्याओं का हल पहले ही बता चुके हैं - मानवीय मूल्यों का क्षरण, गरीबी-अमीरी का द्वंद्व, स्वतंत्रता और बंधन, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सामान्य मनुष्य, सामाजिक संबंध और अलगाववाद के अंतर्विरोध, पर्यावरण संरक्षण की समस्याओं और व्यक्तिगत जीवन - इन सबके उत्तर उनके पास हैं।

पूँजी तथा श्रम के बीच संबंधों पर गाँधीजी के विचार विशेष रूप से उनके अपने थे और बिड़ला तथा उनके वर्ग को एकदम स्वीकार्य नहीं थे।¹⁰ गाँधीजी ने पूँजीपतियों से कहा था कि वे अपने-आपको जो कुछ उनके पास है, उसका न्यासी मानें, अपने और अपने परिवारों के लिए उतना ही उपयोग करें जितना आवश्यक है और किसी भी परिस्थिति में अपने कर्मचारियों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग न करें। संपत्ति के बँटवारे पर भी गाँधी के विचार मौलिक थे। उन्होंने लिखा था "व्यक्तियों का अपरिमित संपत्ति पर स्वामित्व भारतीय मानवता के विरुद्ध अपराध माना जाना चाहिए।" वे नहीं समझ पाते थे कि एक मिल मालिक, एक वकील, एक डॉक्टर, एक फैक्टरी के मजदूर या एक सफाई कर्मचारी को दिन-भर के निष्ठायुक्त कार्य के बदले समान वेतन क्यों नहीं मिलना चाहिए। आदर्श तो यह होता कि संपत्ति का समान वितरण हो, लेकिन अगर इसे प्राप्त करने में कठिनाई थी तो गाँधी ने न्यायसंगत वितरण की माँग की थी।

गाँधीजी के ट्रस्टीशिप का सिद्धांत पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों के विकल्प के रूप में रखा गया था। ट्रस्टीशिप की अवधारणा समाजवाद की तरह एक सुविधाजनक लिबास नहीं था, जिसके भीतर वर्तमान प्रणाली की प्रचलित विकृतियों को दृढ़ किया जा सके, बल्कि गाँधी के अन्य विचारों की तरह ही इसका उद्देश्य आर्थिक असमानताओं को अहिंसक ढंग से दूर करना और आवश्यक हो तो हठी पूँजीपतियों/जमींदारों को अधिकार-च्युत कर देना था।¹²

ट्रस्टीशिप के इस सिद्धांत को गुन्नार मिर्डल ने, अपनी पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में आमूल परिवर्तनकारी के रूप में समानतावादी बतलाया है। वह कहता है कि गाँधी "एक सच्चे पाश्चात्य ढंग के उदारवादी, सचमुच एक आमूल परिवर्तनवादी और क्रांतिकारी थे, जिनकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तनों की माँग को पूरे उपमहाद्वीप में सुना गया था।"¹³

ट्रस्टीशिप का सिद्धांत गाँधीजी ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान आगा खॉ महल में बंदी रहने के दौरान किया था। यह मुख्यतः पूँजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था में बदलने का माध्यम था।

गाँधीजी ने 1942 में लिखा था "मुझे दिखाई दे रहा है कि (दूसरे विश्व युद्ध) युद्ध के अंत का अर्थ पूँजीवाद का अंत होना भी होगा।" 1944 में उन्होंने लिखा "भारत के नगरों में दीख पड़नेवाली संपत्ति से हमें धोखे में नहीं आना चाहिए... यह निर्धनतम लोगों के रक्त से प्राप्त होती है... मैं ग्रामीण अर्थव्यवस्था से परिचित हूँ... मैं आपसे कहता हूँ कि शीर्ष से आनेवाला दबाव तेजी से लोगों को कुचल देता है।" जरूरत इस बात की है कि उनकी पीठ से यह बोझ उतरे। दो वर्ष बाद उन्होंने चेतावनी दी कि जैसे वालों को "वर्ग-संघर्ष और स्वयं को स्वेच्छा से अपनी संपत्ति का

न्यासी बना देने के बीच” अपना चुनाव करना पड़ेगा।¹⁴ भारत को स्वतंत्रता मिलने के दो महीने बाद अक्टूबर 1947 में गाँधीजी ने घोषणा की कि “कांग्रेस किसान-मजदूर-प्रजा राज के पक्ष में है।”¹⁵

आज जब भारत और विश्व का आर्थिक परिदृश्य तेजी से बदल रहा है, अमीर देश नित्य अमीर और गरीब देश नित्य गरीब बनते जा रहे हैं और उन देश की प्रजाओं का भी वही हथ्र हो रहा है, गाँधीजी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा आर्थिक असमानता को दूर करने का एकमात्र साधन नजर आ रहा है। आज संपूर्ण विश्व के राज्य और उनमें बसनेवाली जनता के बीच 80/20 समाज बन चुका है 80 प्रतिशत जैसे लोग जिनकी आर्थिक स्थिति निरंतर गिरती जा रही है और 20 प्रतिशत ऐसे लोग जिनकी आर्थिक स्थिति निरंतर मजबूत होती जा रही है।¹⁶ इन विषम परिस्थितियों में हिंसा, आतंकवाद, भ्रष्टाचार सामान्य नियम बन गए हैं और दुनिया के सभी देश टाईम बम पर बैठे हैं। जिस तरह सीरिया की एक चिनगारी ने ‘अरब स्प्रिंग’ को जन्म दे दिया, वैसे ही कापॉरेट विश्व, बहुद्वेषीय कंपनियों के विरुद्ध एक आवाज दुनिया की राजनीतिक-आर्थिक अर्थव्यवस्था को आमूल-चूल परिवर्तित कर देगी।

आज के परिवर्तन और विकासवादी युग में हिंसा, बीमारियाँ, बेरोजगारी और गरीबी, युद्ध और उससे संबंधित तैयारियों से जुड़े नजर आते हैं। राष्ट्रों के बीच विकास की प्रतियोगिता, सैन्य बल की प्रतियोगिता, आर्थिक उन्नति की प्रतियोगिता समाज को दूषित कर रही है। विज्ञान और तकनीक ने, विकास की दौड़ ने गरीब-अमीर देशों और राज्यों के बीच की जनता के बीच की दूरी को बढ़ा दिया है। विशाल बाँधों के निर्माण, बिजली और ऊर्जा की माँग, निजीकरण, उदारवाद, ढाँचागत समंजन ने निम्न आय के राज्यों का खून पानी की तरह बहा दिया है। मनुष्य रोजगार की खोज में गाँवों से शहरों की ओर और शहरों से महानगरों की तरफ भाग रहे हैं जिनके कारण डिप्रेशन, विलगाव, जीवन-शैली संबंधी बीमारियाँ और एड्स जैसी बीमारियाँ फैल रही हैं। पीटर बर्गर, एक अमेरिकी समाजशास्त्री, अपनी पुस्तक *Pyramids of Sacrifice : Politics Ethics and Social Change* में 'Calculus of Pain' की बात करते हैं और कहते हैं कि विकास की नीति का जब निर्धारण किया जाता है तो जान-बूझकर कुछ समूहों के हितों की अनदेखी की जाती है। डैम बनते हैं, सड़कें बनती हैं उद्योगों की स्थापना के लिए किसानों की जमीन अधिग्रहीत की जाती है, तो कुछ लोग विस्थापित होते हैं, संसाधन विहीन होते हैं, बेरोजगार और बीमार होते हैं। इनका प्रभाव सबसे ज्यादा कमजोर वर्गों पर पड़ता है। विकास के लिए लिए गए विदेशी ऋण सरकार पर बोझ बढ़ाते हैं तो जनता को स्थानांतरित कर दिया जाता है। इन सबका सम्मिश्रित प्रभाव समाज पर बुरा पड़ता है। अगर हम UN Human Development Reports पर नजर डालें तो स्पष्ट होता है कि कैसे सामान्य

जनता पर विकास का बोझ निरंतर बढ़ता जा रहा है और उनका जीवन दूबर होता जा रहा है।

विकास और वैश्वीकरण की राजनीति के प्रभाव का आकलन करने पर स्पष्ट होता है कि भारत में किस तरह संपत्ति का संकेंद्रीकरण हुआ है। एक बिजनेस अखबार में छपी खबर के अनुसार भारत में महज 8,200 व्यक्तियों के पास देश की 70 फीसदी संपत्ति है। यही नहीं विकास, वैश्वीकरण और आधुनिक प्रजातांत्रिक राजनीति के कारण भारत में अमीरों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, क्योंकि यहाँ रोज की करोड़पति बन रहे हैं। भ्रष्टाचार बढ़ता है तो अरबपतियों-खरबपतियों की संख्या भी तेजी से बढ़ती है।¹⁸ भारतीय राज्य और उन राज्यों की जनता टैक्स के बढ़ते बोझ का विरोध करने लगी हैं। दिल्ली और मुंबई के म्युनिसिपल कॉरपोरेशन का बजट कई राज्यों के बजट के बराबर है। भ्रष्टाचार, हिंसा, बेरोजगारी, गरीबी से संघर्षरत जनता के विरोध को दबाने के प्रयास में देश की मान्य संस्थाओं की स्थिति तार-तार हो रही है। भारत का भविष्य गढ़नेवाले 50 प्रतिशत बच्चे भुखमरी/कुपोषण के शिकार हैं। महिलाओं की स्थिति भी कोई खास बेहतर नहीं है।¹⁹

ऐसी स्थिति में दुनिया को बिल गेट्स और वारेन बुफेट की तरह अपनी संचित आय का एक बड़ा हिस्सा समाज के कल्याण में खर्च करना होगा। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अगर अपने सामाजिक दायित्व से भागती रहेंगी, अमीर अपनी संपत्ति का भोग करते रहेंगे तो ब्रेकिंग पॉइंट बहुत दूर नहीं दिखता।

विश्व को गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को जल्द ही स्वीकार करना होगा। सिर्फ कल्याणकारी-राज्य के लिबास में राज्य का यह स्वरूप नहीं चल पाएगा। गरीबी के रेगिस्तान में अमीरी के नखलिस्तान नहीं बच पाएँगे। दुनिया अभी मौखिक रूप से गाँधी के विचारों को स्वीकार कर रही है, कब उसे उनके विचारों को व्यावहारिक रूप देना पड़ेगा।

भारतीय समाज की संस्कृति में संयुक्त परिवार की भूमिका, जातीय सहयोग की भावना, दान की प्रवृत्ति, ट्रस्टीशिप की अवधारणा से प्रेरित रहे हैं। संसार का ऐश्वर्य क्षणभंगुर है, पैसा माया का रूप है, लक्ष्मी चलायमान हैं, इसलिए यहाँ ईश्वर से प्रार्थना है कि

“साई इतना दीजिए जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।”

एक प्रचलित उक्ति है कि

पूत कपूत तो का धन संचय।
पूत सपूत तो का धन संचय।।

ईशोपनिषद् का पहला श्लोक है

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत ।

तेन व्यक्तेन भुंजीथा : मागृधः कस्यचिद्धनं ।।

इस श्लोक के महत्त्व को उजागर करते हुए गाँधी ने कहा था कि अगर भारत से सभी प्राचीन ग्रंथ को लुप्त हो जाते और सिर्फ यही श्लोक बच जाता तो भी भारतीय संस्कृति विश्व की अप्रतिम संस्कृति के रूप में स्थापित रहती। इस श्लोक का अर्थ है : “यह संपूर्ण जगत और उसमें जो कुछ है ईश्वरमय है, पूर्ण है। त्यागपूर्वक इसका उपयोग करो, दूसरे के धन-भाग का लोभ मत करो”

दस्ट्रीशिप ऐसी अवधारणा है, जो अहिंसा, अस्तेय, स्वराज और समता पर आधारित है। इसके मूल में यह धारणा है कि धनवान व्यक्तियों के द्वारा अपनी अतिरिक्त संपत्ति की संरक्षण के लिए यह भावना रहनी चाहिए कि वह एक सामाजिक संपत्ति है और उसे अपने पड़ोसियों की तुलना में ज्यादा नहीं रखना चाहिए। अर्थव्यवस्था का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि किसी को अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। गाँधी ने कहा था “प्रत्येक भारतवासी का यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसा न समझे कि अपने और अपने परिवार के खाने-पहनने भर के लिए कमा लिया तो सब कुछ कर लिया। उसे अपने समाज के कल्याण के लिए दिल खोलकर दान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।”²⁰

दस्ट्रीशिप सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि पारस्परिक त्याग और सेवा द्वारा ही अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। यह सिद्धांत वर्ग-भेद मिटाकर वर्ग विहीन समाज की स्थापना का माध्यम है।

आज देशी-विदेशी अनेक गैर-सरकारी संगठन इस अवधारणा पर काम करने का दावा तो कर रही हैं, लेकिन वास्तव में ‘ब्लैक मनी’ को ‘ह्वाइट’ बनाने के साथ गरीब समाज के शोषण में लिप्त हैं। उनमें सेवाभाव कम आत्म-सेवा ज्यादा प्रबल है।

संदर्भ

1. “मैसेंजर ऑफ पीस एंड फ्रीडम”, मवन्स जर्नल, Vol. 50, No. 14 (2004), पृ. 11।
2. उन्हें काठियावाड़ में जनवरी 1915 में ‘महात्मा’ कहा गया। तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ टैगोर ने फरवरी, 1915 में उन्हें इस रूप में संबोधित किया। देखें हीरेन मुखर्जी; गाँधीजी ए स्टडी, नई दिल्ली, 1979, पृ. 16।
3. उद्धृत श्री प्रकाश मणि त्रिपाठी; समकालीन राजनीतिक चिंतन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 388।
4. मारग्रेट बूर्क ह्वाइट; हाफ वे टू फ्रीडम, बंबई, 1950, पृ. 184।
5. बलराम नंदा; गाँधी और उनके आलोचक, नई दिल्ली, 1995, पृ. 157।

6. राघवन अइपर; द मॉरल एंड पॉलिटिकल पार्ट ऑफ महात्मा गाँधी, न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 6-7।
7. गाँधी ने स्वयं लिखा है कि “हृदय के विकास की कोई सीमा नहीं होती।”
8. रिपोर्ट ऑफ द ट्वेंटी-फोर्थ इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1909, पृ. 88-89।
9. आर. वेंकटरमन; ‘महात्मा गाँधी : ऐन ऐंजल ऑफ पीस’, मवन्स जर्नल, Vol. 50, No. 4, पृ. 13।
10. देखें द्विजेंद्र त्रिपाठी; ‘कांग्रेस एंड द इंडस्ट्रियलिस्ट्स 1885-1947’, शेखर बंधोपाध्याय (सं.) नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया, नई दिल्ली, 2009, पृ. 273-293।
11. एन.के. बोस; स्टडीज इन गाँधीज्म, कलकत्ता, 1962, पृ. 86।
12. श्रीमन्नारायण; इंडिया नीड्स गाँधी, नई दिल्ली, 1976, पृ. 12-13।
13. गुन्नार मिर्डल; एशियन ड्रामा, लंदन 1968, खंड-2, पृ. 754।
14. डी.जी. तेंदुलकर; महात्मा, दिल्ली, उपलब्ध नहीं, 1957. पृ. 47।
15. एम.के. गाँधी; दिल्ली डायरी, अहमदाबाद, 1948, पृ. 69।
16. देखें ओ फाल्स बोर्ड (सं.); द चैलेंजेज ऑफ सोशल चेंज, लंदन, 1985, यूनाइटेड नेशंस, ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, लंदन, प्रति वर्ष, जेस पेद्रास और हेनरी वाल्टमेयर, ग्लोबेलाइजेशन अनमास्कड, लंदन एवं न्यूयॉर्क, 2001, यूनाइटेड नेशंस, द स्टेट ऑफ फूड इनसिक्यूरिटी इन द वर्ल्ड, 2003, रोम, 2003, इत्यादि।
17. पीटर बर्जर; पीरामिड्स ऑफ सैक्रीफाइस, लंदन, 1974।
18. उद्धृत, हरिवंश, ‘कहाँ है भारत?’, प्रभात खबर, भागलपुर, 1.4.2012।
19. सीताराम येचूरी; ‘नो शार्टकट्स, प्लीज’, हिंदुस्तान टाइम्स, पटना, 17.1.2012, जोसेफ बेंजामिन; ‘पार्वर्ती एंड मैलन्यूट्रीशन’, द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, Vol. 73, संख्या-3, (2012), पृ. 477-488।
20. इंडियन ओपिनियन, 20.8.1902।

गाँधीवादी दृष्टि से प्रेमचन्द और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के उपन्यास

दिनेश कुमार चौबे

महात्मा गाँधी ने अपने युग में नयी चेतना का संचार किया था। उनकी विचारधारा ने तत्कालीन सभी भाषाओं के साहित्य की प्रायः सभी विधाओं को प्रभावित किया है। गाँधीवादी विचार को साहित्यमय व्यक्तित्व प्रदान करने का प्रयास स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़े प्रायः सभी साहित्यकारों ने किया। हिन्दी एवं असमिया भाषा का साहित्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। दोनों भाषाओं के कथा-साहित्य में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द और ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। गाँधीवादी दृष्टिकोण से यहाँ प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि' और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत 'मृत्युंजय' का अनुशीलन अभीष्ट है।

प्रेमचन्द और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के जीवन-दर्शन में साम्य उनके उपन्यासों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। दोनों आलोच्य उपन्यासकारों के उपन्यास 'कर्मभूमि' और 'मृत्युंजय' में गाँधीवादी चेतना का चित्रण प्रायः समान रूप से हुआ है।

अनुशीलन के क्रम में प्रेमचन्द (1880-1936) और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य (1924-1997) की कृतियों का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है। प्रेमचन्द का जन्म इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पाँच वर्ष पूर्व सन् 1880 में और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का जन्म गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के ठीक 4 वर्ष बाद 1924 में हुआ। दोनों ही साहित्यकार मध्यवर्ग से सम्बन्धित हैं। दोनों ही भारत की एकता एवं अखंडता के विकास हेतु गाँधीवादी चेतना से अधिक प्रभावित हैं। दोनों ने कथा-साहित्य में उल्लेखनीय कार्य किया है। दोनों का मुख्य कर्मक्षेत्र शिक्षा-जगत रहा है। प्रेमचन्द जीवन-भर विद्यालयों में औपचारिक एवं समाज में अनौपचारिक शिक्षा दान देते रहे।

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग 793022 (मेघालय) मो. 9436312134

असमिया साहित्यकार वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने अपने कथा-साहित्य में साहित्यिक विधाओं से असमिया साहित्य को पुष्ट किया है। श्री भट्टाचार्य मूलतः आदर्श शिक्षक थे, गुवाहाटी विश्वविद्यालय में औपचारिक और समाज में अनौपचारिक शिक्षा-प्रसार में लगे रहे। उनके व्यक्तिगत जीवन, परिवार से विश्वविद्यालय तक के जीवन-दर्शन में एकरूपता, सरलता एवं भारतीयता की भावना प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन से काफी मिलती-जुलती है।

दोनों साहित्यकारों के प्रमुख कथा-साहित्य इस प्रकार हैं

प्रेमचन्द

उपन्यास सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान, मंगलसूत्र (अपूर्ण)

कहानी-संग्रह सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपचीसी, प्रेम प्रतिमा, प्रेमद्वादशी, समरयात्रा, मानसरोवर - भाग 1-2, कफन।

वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का कथा-साहित्य

उपन्यास इआरूहंगम, राजपथे रिडियाई, आई शतघ्नी, मृत्युंजय

कहानी-संग्रह कलं आजिओबय, सातसरी।

दोनों साहित्यकार गाँधीवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। प्रेमचन्द ने 1920 से 1930 तक भारतीय स्वाधीनता संग्राम में गाँधीवादी नीति को निकट से अनुभव किया। आजादी के लिए समग्र भारतीय समाज सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेना चाहता था, इससे भारत भूमि अंग्रेजों से मुक्त हो सकती थी। किन्तु इस आन्दोलन में सभी भारतीय एक होकर नहीं आ रहे थे जिसका कारण था अशिक्षा, छुआछूत, रूढ़िवाद, शोषण-शोषित वर्ग, ग्रामीण-शहरी वर्ग-भेद, स्त्री-पुरुष वर्ग-भेद। प्रेमचन्द इन कारणों का निदान चाहते थे। उनकी दृष्टि में गाँधी जी का आन्दोलन स्वराज्य प्राप्ति का उपयुक्त माध्यम था। वे इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए भारतीय समाज में एकता चाहते थे। दोनों साहित्यकारों का यह विश्वास था कि यदि भारतीय समाज का शोषित, उपेक्षित वर्ग एक हो जाए तो गाँधी के असहयोग आन्दोलन के अतिरिक्त अन्य कई आन्दोलन जन्म ले सकते हैं। गाँधी जी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त रूप देने के लिए जिस कार्य-पद्धति का प्रयोग किया वह 'सत्याग्रह' है। उन्होंने इस शब्द को दक्षिण अफ्रीका में वहाँ की सरकार के विरुद्ध भारतवासियों के अहिंसक विरोध का परिचय कराने के लिए रचा था। इसका अर्थ है वह साधना जिसके द्वारा सत्य, धर्म की रक्षा हेतु आग्रह किया जाता है। सत्याग्रह ऐसा अहिंसात्मक वैज्ञानिक साधन है, जो स्वपक्ष और परपक्ष दोनों की आत्मशुद्धि करता हुआ उन्हें सत्यमार्गी बनाकर सत्य के आधार पर समाजोन्नति में

योग देता है। गाँधी जी का सत्याग्रह राजनीति के क्षेत्र में 'असहयोग' के नाम से प्रचलित है। उन्होंने राजनीति के असहयोग के अग्रलिखित रूप सुझाए थे सविनय अवज्ञा, उपवास, हिजरत अथवा देशत्याग, धरना या पिकेटिंग, हड़ताल, बहिष्कार। इस तरह हिन्दी और असमिया के साहित्य में गाँधीवादी विचारधारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं समग्र सत्य का दर्शन, समाज सेवा में मुक्ति की अनुभूति, धर्म-जाति समुदाय से भिन्न समाज-निर्माण, आत्म-सहिष्णुता, नारीजाति का पुनरुत्थान, सार्वभौमिक मुक्ति भावना, विनीत स्वाभिमान, परपीड़ा ज्ञान, चारित्रिक पवित्रता, अहिंसामूलक राष्ट्रीयतावाद, हर स्थिति में ब्रह्मचर्य पालन, अपरिग्रह भावना, आशावादी दृष्टिकोण, नवीन राष्ट्रीय भावना आदि।

प्रेमचन्द द्वारा रचित उपन्यास 'कर्मभूमि' नौ अध्यायों में विभक्त है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द अपने विचारों द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलन को सुदृढ़ करने हेतु विभिन्न वर्गों के पात्रों के माध्यम से गाँधीवादी विचारधारा को विभिन्न भावों में अभिव्यक्त करते हैं। कुछ पात्र यहाँ उल्लेखनीय हैं

अमरकान्त : यह उपन्यास का नायक है। स्वतन्त्रता आन्दोलन की एकता के लिए समाज के सभी वर्गों का एक होना जरूरी है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अमरकान्त गाँव में जाता है। स्कूल खोलता है तथा गाँव के लोगों को एक धारा में लाता है। उसके लिए वह अपने अनेक क्रान्तिकारी विचारों को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, "जहाँ सौ में अस्सी आदमी भूखों मरते हैं, वहाँ शराब पीना गरीबों के रक्त पीने के बराबर है" (पृ. 155)।... "हम इसीलिए गुलाम हैं कि हमने खुद गुलामी की बेड़ियाँ अपने पैरों में डाल ली है। जानते हो यह बेड़ी क्या है? आपसी भेद..." (पृ. 225)। "धर्म का काम संसार में मेल और एकता पैदा करना होता है। यहाँ धर्म ने विभिन्नता और द्वेष पैदा कर दिया है। अछूतों के हाथ से पानी पी लूँ, धर्म छूमन्तर हो गया। अच्छा धर्म है। यह धर्म नहीं धर्म का कलंक है। अब क्रान्ति ही में देश का उद्धार है। ऐसी क्रान्ति में जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे।" (पृ. 90-91)

सुखदा : आरम्भ में भोग-विलास में विश्वास रखती है, किन्तु बाद में पूर्ण गाँधीवादी बन जाती है। यह उपन्यास की नायिका भी है।

नैना : नैना का समाजवाद में विश्वास है। उसका विचार है कि समाजवाद से ही स्वतन्त्रता आन्दोलन सफल हो सकता है तथा समाजवाद की स्थापना तभी सम्भव है जब शोषक वर्ग अपने स्वार्थों को छोड़ दे। वह कहती है : " मैं दिखा दूँगी कि जिन गरीबों को तुम अब तक कुचलते आए हो वही साँप बनकर तुम्हारे पैरों में लिपट जाएँगे।" (पृ. 222) इसी भावना की रक्षा के लिए वह अपना प्राण तक दे देती है।

सलीम : आई. सी. एस. अधिकारी है, किन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन से प्रभावित होकर अपना पद छोड़ देता है तथा आन्दोलन का नेता और प्रमुख पक्षधर बन जाता है। आई. सी. एस. अधिकारी के रूप में सलीम अपने मित्र अमरकान्त को गिरफ्तार

कर लेता है। साथ ही वह यह भी कहता है, "तुमने गूँगों को आवाज दी, सोतों को जगाया।" सलीम आन्दोलन से इतना प्रभावित होता है कि वह अपना पद त्याग कर आन्दोलन का संचालन करता है। (पृ. 213)

काले खाँ : यह पात्र आन्दोलन को पहले तो हिंसा की ओर ले जाता है, परन्तु बाद में पूर्ण अहिंसक बनकर आन्दोलन में सहयोग देता है। (पृ. 214)

स्वामी आत्मानन्द : ब्राह्मण पात्र है। अछूतों और गरीबों के बीच भेदभाव मिटाकर आन्दोलनकारियों में एकता के सूत्र को मजबूत कराने के लिए जनमत तैयार करता है।

समरकान्त : धनाढ्य व्यापारी है। यह शोषितों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करता है। शोषित समाज को सर्वप्रथम यह ज्ञान होना चाहिए कि "अन्याय करना जितना बड़ा पाप है उतना ही बड़ा पाप अन्याय सहना भी है।" (पृ. 226) समरकान्त अमरकान्त और पुत्रवधू सुखदा के लिए प्रेरणादायक भी है।

शान्तिकुमार : पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त डॉक्टर है। ये रूढ़िवाद से ग्रसित धर्माधिकारियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। (पृ. 228) अर्थपतियों की स्वार्थ बुद्धि को आर्थिक विषमता का मुख्य कारण मानते हैं। (पृ. 219)

मुन्नी : साधारण वर्ग की इस नारी का आन्दोलन के प्रति विशेष महत्त्व है। यह गाँव में रहकर आन्दोलन के लिए लोगों को सचेत करती है तथा गरीबों से मुक्त कराने के लिए सक्रिय रहती है। (पृ. 224)

गुदड़ चौधरी : यह अछूत वर्ग का पात्र है जो शराब आदि दुर्व्यसन से मुक्त होकर आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देता है, तथा अछूतों को रूढ़िवादी ज्ञान से मुक्त करता है। "पूर्व जन्म एवं वहाँ से अच्छे-बुरे कर्म जैसी कोई भी धारणा सत्य नहीं है। यह सब मन को समझाने की बातें हैं। जिसमें गरीबों की अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरों के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े।" (पृ. 232)

वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। नागालैंड में लम्बे अन्तराल के अध्यापन कार्य से आदिवासी जनमानस को परखते हुए उन्होंने इस आन्दोलन के महत्त्व को समझा। उन्होंने प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' के सदृश 'मृत्युंजय' में उन सभी वर्गों के पात्रों को स्थान दिया है, जो आरम्भ में गाँधीवादी विचारधारा के महत्त्व नहीं मानते और सुभाष चन्द्र बोस के हिंसक आन्दोलन को स्वीकार करते हैं। इन पात्रों में जनजाति वर्ग के पात्र आन्दोलन में अधिक सचेष्ट परिलक्षित होते हैं उदाहरण के लिए डिमी। मृत्युंजय की कथा सोलह अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में पात्र नयी भावना को लेकर आन्दोलन का संचालन करते हैं। भट्टाचार्य अपने विभिन्न पात्रों के माध्यम से अपनी गाँधीवादी विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ कुछ पात्र उल्लेखनीय हैं

गोसाई : ब्राह्मण है, तथा आरम्भ में किसी का जूठा उठाना उचित नहीं समझते। किन्तु एकता हेतु ऊँच-नीच की भावना नहीं होनी चाहिए, यह सिद्धान्त

उन्होंने गाँधी जी से स्वीकार किया, तथा बाद में उनमें ऊँच-नीच की भावना नहीं रही। गोसाँई आरम्भ से ही खूनी क्रान्ति की अपेक्षा गाँधी नीति को अधिक महत्त्व देते रहे। इसका सटीक प्रमाण उनके इस उत्तर से मिलता है। रूपनारायण गोसाँई से बोला “मानुह नेमारिनो कोत कोने युँज करिछे पृथिवीत?” (मनुष्य की हत्या किए बिना कहाँ किसने लड़ाई लड़ी है दुनिया में?)। गोसाँई ने तुरन्त उत्तर दिया “किय गाँधीये।” (क्यों गाँधी जी ने)। मरते समय गोसाँई के अन्तर से इस प्रकार आवाज आ रही थी- “मानुह मरा बेया। झनुहर तेजेरे मानुहे एको स्थायी मन्दिर साजिब नोवारे।” (पृ. 187) (आदमी को मारना अच्छा नहीं। मनुष्यों के खून से कोई स्थाई मन्दिर नहीं बना सकता)

गोसाँईन : धर्म-परायण सती है जो आन्दोलन के आरम्भ में सहयोग देती है, किन्तु अन्त में खूनी आन्दोलन से विमुख हो जाती है। वह अन्त में कहती है कि हिंसा से आदमी इतना उद्विग्न हो गया है कि आजादी के बाद भी क्या वह पुनः मनुष्य बन सकेगा।

“स्वाधीनता पाले मानुह आगतके भाल हबने बेया हबो? मानुहे मरामरि कटाकटि करिबलै एरा नाइ। स्वाधीनता पाले मानुहबोर भाल हबने नहय।”

(स्वतन्त्रता पाने के बाद लोग अच्छे होंगे या बुरे होंगे लोगों ने मार-धाड़ करना अभी तक नहीं छोड़ा है। स्वतन्त्र होने के बाद लोग अच्छे होंगे या नहीं?)

डिमि : गारो युवती है जो आन्दोलनकारियों को एक सूत्र में बाँधे रखती है, तथा अन्तिम समय तक दमनकारी नीति से विचलित नहीं होती। किन्तु आन्दोलन की इस नीति से बार-बार जेल जाना तथा गृहकार्यों से वंचित हो जाना उसे अच्छा नहीं लगता। इन्हीं कारणों से वहीं इस खूनी आन्दोलन से अन्त में घबरा-सी जाती है। वह कहती है

“डिमिये कले, आको जेललै जाब लागिब। कि आपद! घरत किमान काम परिआछे कि कम ताक” (पृ. 187)

(डिमि ने कहा, फिर जेल जाना होगा। क्या विपत्ति है! घर पर कितने काम पड़े हैं, क्या कहँ।)

आन्दोलनकारियों का दमन करने वाले भी गाँधी के अहिंसावाद से प्रभावित होते हैं। वे आन्दोलनकारियों की तड़पति हुई जिन्दगी एवं मौत से घबरा जाते हैं। लयराम, शइकीया तथा दरोगा जो अन्त तक आन्दोलनकारियों के दमन में सहयोग देते हैं, इस हिंसा कांड से पश्चात्ताप करते हैं

लयरामर मुखखन शेता परिगल। गोसाँइर मृतदेह देखियेइ तार बुकुखन बहि गैछिल। (पृ. 195)

(लयराम का मुँह सूख गया। गोसाँई की लाश देखकर उसके हृदय को सदमा पहुँचा था।)

इतना ही नहीं आन्दोलन की दमन नीति से पुलिस के लोग भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगे। इनमें सदर थाने के दरोगा प्रमुख हैं

सदरथानार दरोगाइ पद त्याग करिछे। किय? एइदरे जधे मधे ग्रेपतार करिबलै तेउर इच्छा नाइ। (पृ. 267)

(कोतवाली के दरोगा ने इस्तीफा दे दिया है। क्यों इस तरह जिस किसी को गिरफ्तार करने की उनकी इच्छा नहीं है।)

मृत्युंजय के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि हिंसावादी नीति अपनाने से प्रजा एवं प्रशासक दोनों को ही कष्ट होता है। इसीलिए *मृत्युंजय* के माध्यम से वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य आन्दोलन की सफलता के लिए गाँधीवादी “सत्याग्रह” को उच्च स्थान प्रदान करते हैं। यह सन्देश वे अपने पात्रों के माध्यम से बार-बार देते हैं। अतः उपन्यासकार की दृष्टि में आदमी की पहले इन्सान बनना जरूरी है तभी वह स्वराज्य प्राप्ति तथा वह स्वराज्य का आनन्द ले सकता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द समष्टि या सामूहिक भावना को अधिक महत्त्व देते हैं, किन्तु दोनों उपन्यासकार समाजवाद के समर्थक हैं तथा इसकी सफलता के लिए भारत में गाँधीवाद को अधिक महत्त्व देते हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के महत्त्व को सुरक्षित रखते हुए कुछ प्रगतिशील गतिविधियों को भी महत्त्व देते हैं, जिसे उनका आदर्शोन्मुख प्रगतिवाद कहा जाता है। प्रेमचन्द स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए धार्मिक रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, लुआलूत, वर्ग-भेद जैसी कुरीतियों का उन्मूलन आवश्यक मानते हैं। उनका यह मानना है कि भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता तभी सम्भव है, जब हम समाज विभेदकारी बुराइयों से मुक्त होकर एकता की भावना से कार्य करें।

वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य बिना हिंसक आन्दोलन की पूर्ण भर्त्सना किए इसे भारत की आजादी के लिए कष्टदायक, समाज विघटक एवं विभेदकारी मानते हैं। उनकी धारणा है कि हिंसक प्रयास से आजादी का प्रारम्भ तो हो सकता है, किन्तु उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। देश में पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए गाँधीवादी विचार ही अपनाना होगा। प्रेमचन्द की तरह वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य को अलूत, शोषण, रूढ़िवाद, नारी-वर्ग की समस्या नहीं सताती, क्योंकि इन समस्याओं के निवारण का प्रारम्भ असम में महापुरुष शंकरदेव 16वीं शताब्दी में कर चुके थे। उत्तर भारत एवं पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक परिवेश में भिन्नता संभवतः इसके पीछे कारण रूप में विद्यमान है। प्रेमचन्द के पात्रों में सामाजिक सुधार के प्रति जिस प्रकार का आग्रह है, वैसा वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के पात्रों में नहीं है। कारण ‘मृत्युंजय’ उपन्यास 1942 के आन्दोलन पर आधारित है। कतिपय पात्र दृष्टि में भिन्नता के बावजूद दोनों उपन्यासकारों के पात्रों के चरित्रांकन में गाँधीवादी विचारधारा सफल रूप में परिलक्षित होती है, जिसे दो सुदूर क्षेत्र के उत्तर प्रदेश एवं असम (पूर्वोत्तर भारत) की भौगोलिक एवं भाषा भिन्नता प्रभावित नहीं कर पाती। हिन्दी एवं असमिया दोनों उपन्यासकार गाँधीवादी चेतना की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

हिंदी उपन्यास और राजनीति

ब्रजकिशोर झा*

“सर्वे सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिददुःख वाप्नुयात्।।”

उपनिषद् के उक्त चिंतन को प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने एक निश्चित संविदा के अनुसार जीवन-यापन शुरू किया था और इस प्रकार राज्य और राजनीति की उत्पत्ति हुई। साहित्य, समाज और राजनीति इन तीनों की उत्पत्ति के मूल में मनुष्य ही है। अरस्तु ने ई. पूर्व चौथी शताब्दी में कहा था, “मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।” ये बात अरस्तु के समय जितनी प्रासंगिक थी, आज के युग में उससे भी कहीं ज्यादा प्रासंगिक है। आज का मनुष्य राजनीति में एकात्म होता जा रहा है जिसकी छाया साहित्य, विशेषकर उपन्यास साहित्य में देखी जा सकती है। समाज साहित्य को प्रभावित करता है और राजनीति से प्रभावित होता है। अतः समाज, साहित्य और राजनीति तीनों अतः संबंधित हैं। कुछ लोगों का मत इससे भिन्न हो सकता है, वे कह सकते हैं कि साहित्य में बस सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् का आदर्श अपनाकर ही साहित्य का सही विकास हो सकता है और इसलिए साहित्य को राजनीति से अलग ही रहना चाहिए अर्थात् साहित्यकार को राजनीति और राजनीतिज्ञों से दूर ही रहना चाहिए। परंतु ये भारी भूल है, “साहित्यिक और राजनैतिक को दो पृथक और विरोधी तत्त्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के से संघर्ष युग में वह मुखर्तापूर्ण-सा ही है। ...साहित्य और राजनीति का असर एक-दूसरे पर होने से रोका भी नहीं जा सकता चाहे राजनीति का युग हो चाहे साहित्य का। नीत्से साहित्यिक था, लेकिन आधुनिक राजनीति पर उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं हो सकती। लेनिन को भी कोई साहित्यिक नहीं कहता फिर भी आधुनिक साहित्य पर उसकी गहरी छाप है।”¹ राल्फ फॉक्स ने उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा है। उक्त कथन

*ब्रजकिशोर झा, प्रवक्ता : कलकता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता; पता : 3D, ELITE ENCLAVE, KOLKATA-700079. Phone-09088585841, E-mail: braj.phd@gmail.com

के आलोक में कहा जा सकता है कि उपन्यास में एक व्यक्ति का समाज और परिवेश के साथ जो संग्राम गाथा निहित है वही इसे महाकाव्य बनाता है। फॉक्स कहते हैं, “The novel is not merely fictional prose. It's a prose of man's life, the first art to attempt to take the whole man and give him expression.”² (उपन्यास सिर्फ कथात्मक गद्य नहीं है। यह मानव जीवन का गद्य तथा समग्र मनुष्य को लेकर उसको अभिव्यक्त करने के प्रयास की पहली कला है। इस संदर्भ में डॉ. गोपाल राय का वक्तव्य उल्लेखनीय है, “राजनीतिक घटनाओं का भी उस देश के साहित्य पर, तुरंत या बाद में, प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता ही है। उपन्यास में यह प्रभाव सर्वाधिक दिखाई पड़ता है, क्योंकि यथार्थ से संलग्नता ही उसकी पहचान है।”³

उपन्यास ही मानव-जीवन को अभिव्यक्त करने की कला है, इस बात की पुष्टि यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलती है, परंतु जीवन की वास्तविक आलोचना ‘राजनीतिक उपन्यास’ के माध्यम से ही संभव है, क्या सभी इस बात से सहमत हैं? वस्तुतः ‘राजनीतिक उपन्यास’ एक ऐसी विधा की उपन्यास है जिसमें विश्व-साहित्य में बहुत कम या न के बराबर ही चर्चा हुई है, “Over the years western literary critics have consisely defined, clearly delineated and carefully treated the various subcategories and varieties of the noval : the historical and picaresque novel, the psychological novel, the novel of manners, even science fiction and mystery novels. Studies of these various types are legion. The political novel, however, has less been fortunate, for their exists few comprehensive studies of this subgenre. It is interesting to note, furthermore, that it is not by chance, but rather through careful design, that the very term "political novel" even in the standard studies by such well known persons as Howe, Blotner and Milne has remained somewhat vague and amorphous.”⁴ (“वर्षों से पाश्चात्य साहित्यिक समालोचकों ने उपन्यास के विभिन्न उपवर्गों और प्रकारों : ऐतिहासिक और पिकारस्क उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, नैतिक उपन्यास, यहाँ तक कि वैज्ञानिक और जासूसी उपन्यासों को भी, संक्षेप में परिभाषित किया, स्पष्ट रूप से चित्रित किया और ध्यान से वर्णित किया है। इन विविध प्रकारों का अध्ययन दलों में हुआ है; किंतु राजनीतिक उपन्यास कम भाग्यशाली ही रहा है, क्योंकि इस विशिष्ट शैली की किंचित समझने योग्य अध्ययन ही उपलब्ध है, इसके अतिरिक्त यह बताना रोचक है कि यह संयोग नहीं है बल्कि थोड़े सचेतनतावश ही यही “राजनीतिक उपन्यास” शब्द, यहाँ तक कि हो, ब्लॉटनर और मिले जैसे सुविख्यात व्यक्तियों के प्रामाणिक अध्ययन में भी संदिग्ध और अव्यवस्थित ही रहा है।”)

वस्तुतः जीवन की वास्तविक आलोचना राजनीतिक उपन्यास के माध्यम से ही संभव है, “आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जीवन की यदि कोई सही आलोचना हो सकती है,

तो वह केवल राजनीतिक उपन्यासों को माध्यम बनाकर ही हो सकती है।⁵ दिनों-दिन मनुष्य राजनीति से एकात्म होता जा रहा है अतः उपन्यास साहित्य में राजनीति की छाया भी दीर्घ से दीर्घतर होती जा रही है और यही कारण है कि हर देश के साहित्य में राजनीतिक उपन्यास का उद्भव लगभग एक ही समय हुआ। कोई भी उपन्यासकार अपने समसामयिक जीवन की गतिविधियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। अतः “चूँकि उपन्यास जीवन का गद्य होता है और उसमें साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा रचना का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है अतः स्वाभाविक है कि समाज के राजनीतिक जीवन का आकलन उपन्यास साहित्य ही सर्वप्रथम, सर्वश्रेष्ठ और सर्वांगीण रूप से कर पाया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विक्टर ह्यूगो और मैक्सिम गोर्की जैसे विश्व के प्रथम कोटि के साहित्यकारों ने अपनी प्रसिद्ध कृतियाँ ‘ला मिसरेबल’ और ‘मदर’ अपने समसामयिक समाज की क्रांतिकारी विचारणाओं से प्रेरणा लेकर ही रची थी, जिनसे फ्रांस की राज्यक्रांति और रूस की सर्वहारा क्रांति रूपायित हुई।”⁶ अर्थात् हम कह सकते हैं कि श्रेष्ठ मानी जाने वाली औपन्यासिक कृतियों में राजनीतिक भावादृष्ट इतनी सक्रिय हो उठा है कि उसे हम राजनीतिक उपन्यास कहे बिना नहीं रह सकते। अब इस बात को लेकर कोई वितर्क नहीं है कि विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों में एक मैक्सिम गोर्की का उपन्यास ‘मदर’ राजनीतिक उपन्यास है।

हिंदी में उपन्यास विधा के शुरुआत के साथ यहाँ के राजनीतिक आंदोलनों की शुरुआत हुई और इस प्रकार हिंदी उपन्यास का इतिहास भारतीय राजनीति से जुड़ा हुआ है, “हिंदी उपन्यास का प्रारंभकाल भारतीय जनमानस में राजनीतिक चेतना के उन्मेष का काल है। ...यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि हिंदी उपन्यास का इतिहास भारतीय राजनीति का भी इतिहास है।”⁷

शुरू में हिंदी उपन्यास साहित्य में जो राजनीतिक चर्चा का निषेध था, उसे प्रेमचंद ने ही सर्वप्रथम तोड़कर राजनीतिक उपन्यास की परंपरा आरंभ की, “हिंदी उपन्यास साहित्य के आरंभ में भी राजनीतिक चर्चा का निषेध था जिसे सर्वप्रथम तोड़ा प्रेमचंद ने। प्रेमचंद हिंदी के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने राजनीतिक पृष्ठभूमि पर उपन्यासों का सृजन किया।”⁸ वस्तुतः काँग्रेस की स्थापना के साथ ही भारतीय राजनीति ने अपना सुव्यवस्थित रूप ले लिया था, जिसका प्रभाव कला पर भी पड़ा और हिंदी में राजनीतिक उपन्यास की शुरुआत यहीं से होती है। पहले उपन्यास साहित्य में प्राचीन भारत के गुण-कीर्तन, राष्ट्र-प्रेम और स्वाधीनता आंदोलन की झँकी प्रस्तुत करने की कोशिश की गई जिसका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि स्वतंत्र रूप से राजनीतिक उपन्यासों की परंपरा प्रेमचंद से ही शुरू होती है। राजनीतिक उपन्यासों के भाष्यकार डॉ. ब्रजभूषण सिंह ‘आदर्श’ के अनुसार भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के तीसरे चरण (1919 से स्वतंत्रता तक) का नेतृत्व गाँधीजी कर रहे थे और उपन्यास का प्रेमचंद; और प्रेमचंद का उपन्यास साहित्य समसामयिक राजनीति से प्रभावित था,

क्योंकि प्रेमचंद साहित्य को राजनीति से अलग देखने के पक्षधर न थे। डॉ. ‘आदर्श’ ने भी प्रेमचंद को हिंदी का पहला राजनीतिक उपन्यासकार माना है, “गाँधीजी राजनीति को जीवन से अलग नहीं मानते थे और प्रेमचंद साहित्य को राजनीति से। दोनों का लक्ष्य तत्कालीन समाज को संघर्ष के लिए गतिशील बनाना था जिससे राष्ट्रीय आंदोलनों को बल मिले। ...और हिंदी के प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद इसे अपने उपन्यासों में सजाते-सँवारते हैं।”⁹

हिंदी का पहला राजनीतिक उपन्यास कहलाने का गौरव प्रेमचंद के ‘प्रेमाश्रम’ को प्राप्त है। ‘प्रेमाश्रम’ (1922) में जमींदारी प्रथा के विरुद्ध किसानों के संघर्ष की गाथा है जो समसामयिक राजनीति की यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर उपन्यास साहित्य में उपयोगितावाद की शुरुआत हो जाने का ईशारा कर देती है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में भारतीयों के शोषण, वर्ग-संघर्ष आदि के यथार्थवादी चित्रण की वजह से ये उपन्यास प्रथम राजनीतिक उपन्यास कहलाने का हक रखता है और इसीलिए इसे हिंदी का पहला राजनीतिक उपन्यास माना गया है। डॉ. ब्रजभूषण के अनुसार, “‘प्रेमाश्रम’ हिंदी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें तत्कालीन जमींदारी प्रथा के विरुद्ध लखनपुर के कृषकों के संघर्ष की उज्ज्वल गाथा किसान जीवन के विशाल फलक पर अंकित की गई है। इसमें शोषक और शोषित वर्गों की समसामयिक राजनीतिक स्थिति को सामाजिक परिपार्श्व में प्रस्तुत करने के कारण वर्ग-संघर्ष का सजीव चित्रण है। वर्ग-संघर्ष से तात्पर्य भारतीयों का विदेशी शासन एवं शोषण और देश की गरीबी आदि है।”¹⁰ इस उपन्यास में भारत को एक विदेशी ताकत के उपनिवेश के रूप में दिखाते हुए तत्कालीन राजनीति का विश्वसनीय प्रस्तुतीकरण हुआ है। किस प्रकार सेठ-साहूकार ब्रिटिश शासन का सहायक बना हुआ है, कैसे गरीब-खेतिहर मजदूरों के हितों पर खोखली ‘राजनीतिक ताजमहल’ बनाकर जमींदार वर्ग राज कर रहा है, इसकी सशक्त अभिव्यक्ति ‘प्रेमाश्रम’ में मिलती है। वैसे यहाँ यह बताना समीचीन है कि प्रेमचंद का उर्दू उपन्यास ‘जलवए ईसार’ जिसका अनूदित रूप ‘वरदान’ (1921) बनकर हमारे सामने आया, सही अर्थों में राजनीतिक उपन्यासों की आधारशिला है, पर वह उस महत्त्व को न पा सका, जिसका अधिकारी था। डॉ. सुषमा शर्मा ने कहा है, “वरदान महत्त्वपूर्ण कृति का स्थान न पाकर भी इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रेमचंद के राजनीतिक उपन्यासों की आधारशिला इसी पर रखी गई है।”¹¹ प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में विदेशी शासन का विरोध हुआ है जो मुक्ति आंदोलन की राजनीति से जुड़ा था। प्रतिज्ञा, वरदान, सेवासदन, रंगभूमि आदि प्रेमचंद के ऐसे उपन्यास हैं जिनमें गाँधीवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। रंगभूमि को ही लें, यह इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। वस्तुतः रंगभूमि उपन्यास इस बात को जाहिर कर देता है कि प्रेमचंद गाँधीवादी विचारधारा से बहुत ही प्रभावित थे। परंतु गाँधीवाद का यह प्रभाव उनके उपन्यास ‘गोदान’ में आकर लगभग टूटता दिखाई देता है। डॉ.

सुपमा शर्मा ने भी यही मत रखा है, “उनका गाँधीवादी भ्रम गोदान में आकर टूट गया जाता है।”¹² वस्तुतः गोदान की समस्या किसान के शोषण की समस्या है, इसके अलावा और कुछ नहीं, जिसका समाधान प्रस्तुत नहीं हुआ है। उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद पहले राजनीतिक उपन्यासकार थे और इनके राजनीतिक उपन्यासों में किसी भी राजनीतिक विचारधारा को प्रचारित करना इनका उद्देश्य नहीं था।

प्रेमचंद के बाद हिंदी में राजनीति को लेकर उपन्यास रचना करने वालों में पहला नाम यशपाल का आता है। यशपाल मार्क्सवादी विचार वाले हैं और उनके उपन्यासों की मूल विषय-वस्तु ही मार्क्सवादी राजनीति और समाज है, “यशपाल जी हिंदी के ख्याति-प्राप्त उपन्यासकार हैं। आपकी विशेषता है कि आप हिंदी उपन्यास में मार्क्सवादी दर्शन और खासकर हिंदी कम्युनिस्टों की प्रचलित राजनीति तथा कार्यवाही का स्पष्टीकरण तथा पुष्टिकरण करने का प्रयत्न करते हैं।”¹³ दादा कॉमरेड (1941), देशद्रोही (1943), पार्टी कॉमरेड (1946), झूठा-सच (खंड-1 और 2; 1958-’60), मेरी तेरी उसकी बात (1973), यशपाल के प्रमुख राजनीतिक उपन्यास हैं।

दादा कॉमरेड यशपाल के व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित राजनीतिक उपन्यास है और इससे ही यशपाल की मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति बढ़ती प्रतिबद्धता स्पष्ट हो जाती है। इस उपन्यास से मूलतः दो प्रश्न उठते हैं 1. क्रांति कैसे होगी समाजवाद से या आतंकवाद से? तथा 2. स्थापित आचरण के लिए हमारी प्रतिक्रिया क्या हो? श्री मधुरेश के अनुसार, “दादा कॉमरेड यशपाल के क्रांतिकारी और फरारी जीवन के अनुभवों पर आधारित है। तीसरे दशक के अंत तक आतंकवादी क्रांतिकारियों में जो वैचारिक बदलाव घटित हो रहा था, यह बदलाव उनके बीच जिस प्रकार बहस का एक मुद्दा बना हुआ था, दो प्रमुख पात्रों को केंद्र में रखकर यशपाल परिवर्तन की उस समूची प्रक्रिया को अंकित करते हैं। दादा के रूप में यशपाल चंद्रशेखर आजाद को प्रस्तुत करते हैं और जबकि कॉमरेड अर्थात् हरीश के रूप में वे स्वयं भी हो सकते हैं काफी दूर तक हैं।”¹⁴ वस्तुतः इस उपन्यास में कांग्रेस को आड़े हाथों लिया गया है। इस उपन्यास में इस बात की पुष्टि की गई है कि कांग्रेस भले राजनीतिक आंदोलन छोड़कर स्वराज्य पाने की लालसा दिखा रही थी, परंतु उसकी इस लालसा का वास्तविक अर्थ आजादी के बाद ही समझ में आया।

देशद्रोही (1943) में यशपाल ने सन् 1942 के आंदोलन में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को स्पष्ट किया है। अगस्त 1942 में जब गाँधीजी ने ‘भारत छोड़ो’ आंदोलन का शंख-नाद किया था, उस वक्त कम्युनिस्टों की भूमिका संदिग्ध हो गई थी, जिसका स्पष्टीकरण ही ‘देशद्रोही’ है, “देशद्रोही में भारतीय साम्यवादी आंदोलन की सार्थकता और कांग्रेस पार्टी के वर्ग-चरित्र के अंतर्विरोध को अतिरिक्त उत्साह के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन् ’30 से ’42 तक की राजनीतिक स्थितियों का अंकन किया गया है, जिसमें उपन्यास के प्रमुख पात्र अपने समय के राजनीतिक प्रश्नों से जूझते

हैं।”¹⁵ श्री मधुरेश ने उपन्यास के महत्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित करते हुए कहा है कि, “बजीरिस्तान और सोवियत संघ की स्त्रियों की तुलना में भारतीय स्त्री की सामाजिक हैसियत, कांग्रेस के वर्ग-चरित्र के अंतर्विरोध और भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की भूमिका उपन्यास के महत्वपूर्ण पक्ष हैं। तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को यशपाल ने अभूतपूर्व कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है।”¹⁶

‘पार्टी कॉमरेड’ (1946) में गीता नामक युवती के पार्टी के प्रति प्रतिबद्धता की कहानी है। गीता पार्टी के प्रति निष्ठा को ही अपना धर्म समझती है। दरअसल, इसमें यांत्रिक ढंग से यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का समर्थन किया है, कहीं भी उनकी दृष्टि आलोचनात्मक नहीं रही है। जब भारतीय जनमानस अंग्रेजों के विरुद्ध उबल रहा था, उस समय साम्यवादी दल ने उल्टे ब्रिटिश सरकार का ही साथ दिया था और मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के माँग का समर्थन किया था, यशपाल अपने उपन्यास ‘पार्टी कॉमरेड’ में कम्युनिस्ट पार्टी के इन नीतियों का समर्थन करते हैं। डॉ. गोपाल राय ने उचित कहा है कि, “पार्टी कॉमरेड का मुख्य विषय कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारा और कार्यक्रम का समर्थन है। साम्यवादी विचारधारा और राजनीतिक कार्यक्रम के प्रति यशपाल की प्रतिबद्धता श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिबद्धता न होकर एक मिशनरी की प्रतिबद्धता बन गई है।”¹⁷

‘झूठा-सच’ (खंड 1 और 2, 1958-60) में भारत-विभाजन के पूर्व और बाद की स्थिति का सजीव वर्णन मिलता है। शरणार्थियों की समस्या देश और समाज को हिला देने वाली समस्या थी। वस्तुतः विस्थापन के बीच स्थापन कोई सहज कार्य नहीं है और झूठा-सच में इसी सच को दिखाया गया है। डॉ. इंद्रनाथ मदान के अनुसार, “...राजनीतिक धरातल पर वह पूँजीवादी शक्तियों के पतन का संकेत देकर भावी को इंगित करते हैं।”¹⁸ यशपाल किस भावी का संकेत करते हैं यह स्पष्ट है।

‘मेरी तेरी उसकी बात’ (1973) भी दृष्टि तथा संदर्भ और स्थितियों में झूठा-सच और अन्य पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह ही है, परंतु व्यापकता की बात करें तो बढ़कर ही है। बात वही है अधिक व्यापक और विस्तृत रूप में, लक्ष्य भी वही है अर्थात् कम्युनिस्टों की राजनीतिक समझ का समर्थन करना।

यशपाल की तरह ही शहरी मध्यवर्ग के जीवन को कथा-रूप देने वाले उपन्यासकार श्री अमृत राय हैं। इनके दो राजनीतिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं ‘बीज’ (1953) और ‘हाथी के दाँत’ (1956)।

‘बीज’ एक युवा स्वतंत्रता सेनानी की कहानी है, जो कांग्रेसी विचारधारा को त्याग कर कम्युनिस्ट हो जाता है। ‘बीज’ में अमृत राय मार्क्सवादियों की सफाई देते नहीं अघाते, “बीज में तत्कालीन भा.क.पा. की विचारधारा और कार्यक्रम ही औपन्यासिक संसार की शक्ति लेते दिखाई पड़ते हैं। इसे एक राजनीतिक उपन्यास भी कहा जा सकता है जिसमें भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता को आम आदमी के लिए झूठी

आजादी कहा गया है। उपन्यास में आम आदमी की सच्ची आजादी के लिए भा.क. पा. संघर्षरत दिखाई गई है।¹⁹

श्री अमृत राय के अन्य उपन्यास 'हाथी के दाँत' में जमींदार कृषक के बीच शोषक-शोषित का संबंध दिखाते हुए जमींदारों को आजादी के बाद काँग्रेस का राजनीतिक जामा पहनकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते दिखाया गया है। राजनीति में लूट और भ्रष्टाचार की सबल अभिव्यक्ति देने में यह उपन्यास महत्वपूर्ण है। वस्तुतः यह उपन्यास उस राजनीतिक छद्म की ही अभिव्यक्ति है जो नेहरू काल के शुरुआती दौर में आरंभ हो गया था। सन् 1937 से 1952 की अवधि में जमींदारों द्वारा शोषण और फिर आजादी के बाद उनका काँग्रेसी बनकर स्वार्थ साधने की कहानी ही सपाट रूप से इस उपन्यास में कही गई है।

उल्लेखनीय है कि अमृत राय के दोनों उपन्यासों में सोच वही पाते हैं जो यशपाल के थे। अमृत राय भी यशपाल की तरह ही ये मानते हैं कि शासक बदल जाने से स्वतंत्रता नहीं मिलती।

यशपाल और अमृत राय के बाद मार्क्सवादी राजनीति को लेकर उपन्यास रचना करने वालों में रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त और नागार्जुन का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

रांगेय राघव का 'सीधा सादा रास्ता' (1951) मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित राजनीतिक उपन्यास है। मार्क्सवाद और रोमांटिसिज्म की मिश्रित अभिव्यक्ति के रूप में इस औपन्यासिक कृति को देखा जा सकता है। वस्तुतः यह उपन्यास भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (1946) की प्रतिक्रिया के रूप में लिखी गई है। जहाँ भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास में साम्यवादी राजनीति, जीवन-दर्शन को विद्रूपीकरण का रूप दिया, उसे ही रांगेय ने अपनी रचनात्मक उत्तर से करारा जवाब के रूप में प्रस्तुत किया। श्री मधुरेश के अनुसार, *सीधा-सादा रास्ता* में रांगेय राघव भगवतीचरण वर्मा के पात्रों को ही लेकर, भिन्न दृष्टि से कहानी प्रस्तुत करते हैं। वे अपना कथा-सूत्र वहीं से उठाते हैं जहाँ *टेढ़े-मेढ़े रास्ते* समाप्त होता है।²⁰

भैरवप्रसाद गुप्त के दो उपन्यास 'गंगा मैया' (1953) और 'सत्ती मैया का चौरा' (1959) महत्वपूर्ण राजनीतिक उपन्यास हैं। 'गंगा मैया' भूमिहीन मजदूर किसानों के संघर्ष की मार्मिक गाथा है जिसमें पुलिस, जमींदारों के अत्याचार का वास्तविक चित्रण हुआ है। फ्रेंच, पुर्तगाली, रूसी, मेंडारिन आदि भाषाओं में अनूदित हो चुकी इस उपन्यास में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के जीवन की राजनीतिक त्रासदी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'गंगा मैया' का पात्र पुलिस, जमींदारों के सामने चुनौती बनकर अपने जमीन पर डटा हुआ है। दरअसल, इन किसानों की, जिनका चित्रण उपन्यास में किया गया है, की वास्तविक शक्ति गंगा और धरती ही है जिस तथ्य का भैरवप्रसाद ने बखूबी चित्रण किया है। श्री रामदरश मिश्र के शब्दों में, "किंतु यह सच है कि

संभावनाओं को पकड़ने में लेखक से चूक नहीं हुई है। समाज को यहीं पहुँचना है। '53 से न सही, कभी और सही। ये किसान गंगा माँ के पुत्र हैं, गंगा और धरती की शक्ति ही इनकी शक्ति है।"²¹

'सत्ती मैया का चौरा' भैरवप्रसाद का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें काँग्रेस के चरित्र को दिखाया गया है। आजादी के बाद किस प्रकार काँग्रेस अपने कार्यकर्ताओं के स्वार्थ पर ही ध्यान देती है, गाँवों में किस प्रकार दलगत फूट आते हैं, इसकी सशक्त छवि उपन्यास में देखी जा सकती है। नेता, अफसरों, हिंदू-मुस्लिम संप्रदायवाद आदि का चित्रण अपने-आप में अनूठा है, "...इसके साथ-साथ ग्रामीण-जीवन के अभिशाप के रूप में नेताओं, सरकारी अफसरों, पंडों-पुरोहितों, शिक्षण-संस्थानों आदि का चित्रण किया गया है। हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को वर्ग-भेद की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास भी उल्लेखनीय है।"²² दरअसल, लेखक के दोनों उपन्यासों में साम्यवाद के प्रति निष्ठा दिखलाई देती है।

नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' (1952), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954), 'वरुण के बेटे' (1957), 'हीरक जयंती' (1963) राजनीतिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

बलचनमा में नागार्जुन ने बलचनमा नामक एक दलित युवक की कहानी प्रस्तुत की है जो एक राजनेता के साथ रहते-रहते राजनीति के दाँव-पेंच से अवगत होकर राजनीतिक चेतना-संपन्न व्यक्ति में बदल जाता है। यह अपने विद्रोह को सक्रिय रूप देकर विशिष्ट बन जाता है। श्री मधुरेश के शब्दों में, "उसकी वर्ग चेतना एक ओर से सामंती समाज की सच्चाई से परिचित कराती है तो दूसरी ओर राजनीति में वह काँग्रेस के वर्ग-चरित्र और पाखंड को समझने में भी सहायक होती है।"²³

'बाबा बटेसरनाथ' में नागार्जुन ने औपनिवेशिक शासन में पुलिस के अत्याचार, अकाल और भुखमरी, स्वाधीनता की लड़ाई आदि का सजीव चित्रण किया है। वहीं 'वरुण के बेटे' में नागार्जुन की पैनी दृष्टि स्त्रियों में आधुनिक राजनीतिक चेतना का विस्तार होते दिखाती है। इसी प्रकार नागार्जुन का 'हीरक जयंती' एक व्यंग-प्रधान राजनीतिक उपन्यास है जिसमें काँग्रेस के मंत्री को निशाना बनाया गया है। वस्तुतः इस उपन्यास में समकालीन शासक वर्ग की चरित्र-भ्रष्टता का सजीव चित्रण हो उठा है। डॉ. गोपाल राय के शब्दों में, "अपने एक ही उपन्यास *हीरक जयंती* में नागार्जुन ने समकालीन शासक वर्ग के नेताओं की चरित्र-भ्रष्टता और स्वार्थपरता का यथार्थ चित्रण किया है। एक काँग्रेसी नेता नरपतनारायण सिंह की *हीरक जयंती* मनाने के बहाने तत्कालीन नेताओं का जो चरित्र सामने आता है, वह अपने समय का एक सुपरिचित तथ्य है। नागार्जुन की विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्यंग्य प्रधान शैली में इस यथार्थ को सजीव बना दिया है।"²⁴

यशपाल से लेकर नागार्जुन तक राजनीतिक उपन्यासों का अध्ययन यही इंगित करता है कि इनके उपन्यास वस्तुतः मार्क्सवादी विचारधारा से आपूरित हैं और इस

प्रकार ये “वाद-सापेक्ष राजनीतिक उपन्यास” की श्रेणी में आते हैं। इसी श्रेणी के उपन्यासों में अर्थात् “वाद-सापेक्ष राजनीतिक उपन्यासों” की श्रेणी में जैनेंद्र के दो गाँधीवादी उपन्यास ‘जयवर्द्धन’ (1956) और ‘मुक्तिबोध’ (1965) आते हैं। जैनेंद्र के दोनों उपन्यासों में गाँधीवादी राजनीति का विशाल स्वर उभरा है। जयवर्द्धन देखता है कि राजनीतिक परिवेश दरअसल सत्ता का परिवेश है और इसकी संगति मानवीय परिवेश से नहीं बैठ सकती और इसलिए वह सत्ता का त्याग कर देता है, अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि जैनेंद्र का ‘जयवर्द्धन’ एक अमेरिकी पत्रकार बिल्वर शोल्डन ह्यूस्टन की डायरी के रूप में ही भारतीय राजनीति की डायरी बन गया है।

वहीं ‘मुक्तिबोध’ में भी राजनीतिक विमर्श का वही आग्रह है जो कि जयवर्द्धन में देखा गया है। इस उपन्यास में भी जैनेंद्र जी साम्यवाद की भर्त्सना कर ही देते हैं। जैनेंद्र के पात्र राजनीतिक हलचलों से प्रभावित कम, सोचते ज्यादा हैं और यही स्थिति ‘मुक्तिबोध’ के पात्र ‘सहाय’ की भी है। मधुरेश के शब्दों में, “सहाय राजनीति में शीर्ष पर हैं। अचानक उन्हें एक दिन यह बोध होता है कि पद और सत्ता से अधिक महत्त्व त्याग और सेवा का है। यह वस्तुतः उनका मुक्ति-बोध है।”²⁵

हिंदी के राष्ट्रवादी राजनीतिक उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा और गुरुदत्त के उपन्यासों का उल्लेखनीय स्थान है। भगवतीबाबू के उपन्यासों में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से भारत-चीन युद्ध तक की राजनीतिक दिशा-दशा तक की छवि मिल जाती है। इनके ‘भूले बिसरे चित्र’ (1959), ‘सबहीं नचावत रामगोसाई’ (1970) राजनीतिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। ‘भूले बिसरे चित्र’ में तीन पीढ़ियों के सोच के बदलाव, औपनिवेशिक शासन के प्रति विद्रोह का यथार्थ चित्रण किया गया है। वर्मा जी ने इस उपन्यास में राष्ट्रवादी आंदोलनों, भारतीय राजनीति में गाँधीजी के उत्थान और इस अवधि में हिंदू-मुस्लिम संबंधों आदि को जीवंत रूप में चित्रित किया है।

वहीं ‘सबहीं नचावत रामगोसाई’ में राजनीति में धन की प्रभुता का प्रभाव दिखाया गया है। धन बहुत दूर तक राजनीति को प्रभावित करता है, कह सकते हैं कि राजनीति को शासित करता है, और इसी बात का प्रत्ययकारी चित्रण भगवती बाबू के *भाग्यवादी* शीर्षक वाले इस उपन्यास में हुआ है। इनके उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में राजनीतिक भ्रष्टाचार और नैतिक-राजनीतिक-स्खलन का चित्रण जोरदार ढंग से हुआ है।

श्री गुरुदत्त के उपन्यास भी इसी श्रेणी में आते हैं। इनके प्रायः सभी उपन्यासों में राजनीति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण मिलते हैं। ‘उन्मुक्त प्रेम’ (1944), ‘स्वाधीनता के पथ पर’ (1947), ‘स्वराज्यदान’ (1947) राजनीतिक दृष्टि से गुरुदत्त के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। दरअसल, इनके उपन्यासों की संख्या बहुत अधिक है और प्रत्येक की विषयवस्तु लगभग सन् 1920-1947 के अवधि की राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

को लेकर ही है। कह सकते हैं कि राजनीति और संस्कृति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण इनकी ‘उन्मुक्त प्रेम’, ‘स्वाधीनता के पथ पर’, और ‘स्वराज्यदान’ की विशेषताएँ हैं। गुरुदत्त के राजनीतिक विचार उनके उपन्यासों पर हावी हैं जिनमें कई बातें क्रांतिकारी हैं। डॉ. योगेंद्र के. मलिक के अनुसार “According to Gurudutt ...Nehru was thus a Communist at heart. Essentially, he finds very little difference between the policies of Nehru and those of the Communist party.”²⁶ (गुरुदत्त के अनुसार ...नेहरू मन से कम्युनिस्ट थे। अनिवार्य रूप से, वे नेहरू की नीतियों और कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों में न के बराबर ही अंतर पाते हैं।)

अब कुछ “वादनिरपेक्ष-राजनीतिक उपन्यास” अर्थात् ऐसे उपन्यास की चर्चा अभिप्रेत है जिसमें किसी विशेष राजनीतिक भावादर्श के प्रचार-प्रसार को लक्ष्य नहीं बनाया गया। इस प्रवर्ग में कुछ महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियाँ हैं डॉ. राही मासूम रजा का ‘आधागाँव’ (1966), फणीश्वरनाथ रेणु का ‘मैला आँचल’ (1954), राजेंद्र यादव का ‘उखड़े हुए लोग’ (1956) तथा श्री लाल शुक्ल का ‘राग दरबारी’ (1968)।

‘आधा गाँव’ में भारत-पाकिस्तान बँटवारे तथा उसके परिणाम का मार्मिक चित्रण किया गया है। इसमें सांप्रदायिक राजनीति का नग्नरूप परिलक्षित हुआ है। यह राष्ट्रीय मुसमलान के त्रासदीपूर्ण कथा को अभिव्यक्त करने वाली कृति के रूप में भी देखी जा सकती है। डॉ. चंद्रकांत बाँदिवडेकर ने ठीक कहा है, “...देश का दुर्भाग्य रहा है कि पाकिस्तान का निर्माण मुसलमान सामान्य जनता का सजग निर्णय नहीं था। बल्कि धर्म के नाम पर उत्पन्न तूफान का वह परिणाम था। ...कांग्रेस जमींदारी तोड़ देगी, क्योंकि ज्यादातर जमींदार मुसलमान हैं, इस नारे ने अपना काम किया।”²⁷ और यही बात उपन्यास का मूल भी है।

श्री फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास ‘मैला आँचल’ (1954) में स्वतंत्रता पूर्व और बाद की राजनीति का चित्रण मिलता है। मैला आँचल के गाँव का प्रत्येक घर राजनीतिज्ञों का अड्डा-सा बन गया है तथा जातिगत आधार पर बँटे इस गाँव में सभी किसी-न-किसी राजनीतिक दल के प्रति प्रतिबद्ध हैं। इस उपन्यास में झूठी आजादी का स्वर भी सुनाई पड़ता है,

“यह आजादी झूठी है
देश की जनता भूखी है।”²⁸

राजेंद्र यादव का उपन्यास ‘उखड़े हुए लोग’ (1956) एक सशक्त राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें देशबंधु जी के माध्यम से पूँजीवादी नेता के चरित्र भ्रष्टता का जीवंत चित्रण किया गया है। सारे पात्र अपने परिवेश से उखड़े हुए लगते हैं। इसमें चित्रित राजनीतिक चरित्र बाहर से ‘गीता’ और ‘गाँधी’ का भक्त बनता है, परंतु भीतर से लंपट है। इसके चरित्र को गहराई से उपन्यासकार ने उतारा है। श्री मधुरेश के

अनुसार, “स्वेदश महल और देशबंधु के माध्यम से जो राजनीतिक दृष्टि ‘उखड़े हुए लोग’ में सक्रिय है वह अवसरवादी, सत्ताकामी और नैतिक अपक्षय वाली राजनीति को उद्घाटित करती है।”²⁹

इसी प्रवर्ग में श्री लाल शुक्ल का उपन्यास ‘राग-दरबारी’ (1968) आता है। जनतंत्रवाद की हास्यास्पद स्थिति को श्री शुक्ल ने साहस के साथ व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उपन्यास में इस बात की पुष्टि मिलती है कि जनता के पास वोट तो है परंतु वह किसी काम का नहीं। गाँव में राजनीति की पहुँच इसे शहरों से भ्रष्टाचार के मामले में होड़ लेने को प्रोत्साहित करने लगी है, “जीवन की नस-नस में व्याप्त इसी राजनीति की बात बड़े साफ ढंग से श्री लाल शुक्ल के बहुचर्चित उपन्यास ‘राग-दरबारी’ में कहीं गई है। विभिन्न उपयोगी संस्थाएँ किस प्रकार राजनीति के अखाड़े बनी हुई हैं, इसे जानने के लिए ‘राग-दरबारी’ एक बहुत उत्तम मार्ग-दर्शक सिद्ध होता है।”³⁰

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिंदी में राजनीतिक उपन्यासों की परंपरा प्रेमचंद के “प्रेमाश्रम” से शुरू होकर कई भावभूमियों से होकर गुजरी है, जिसके सम्यक अध्ययन की आवश्यकता है। हिंदी उपन्यास साहित्य में राजनीति को लेकर काफ़ी उपन्यासों की रचना हुई है, जिसमें उपन्यासकारों ने समाज-समालोचक के रूप में राजनीति की गंदगी दिखाकर राजनीतिक जागरूकता का विकास ही किया है। दिनोंदिन इस क्षेत्र में विकास ही हो रहा है। आवश्यकता है कि हिंदी के राजनीतिक उपन्यासों के विधागत (Genre) अध्ययन पर बल दिया जाए।

संदर्भ

1. अज्ञेय, *सर्जना और संदर्भ*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1985, पृ. 59-61.
2. Fox, Ralph, *The Novel and the People*, Foreign Language Publishing House, Moscow, 1954, p-32.
3. राय, गोपाल, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 196.
4. Coppola, Carlo, Ed. Malik, Yogendra K., *Politics and the Novel in India*, Orient Longman, Bombay, 1978, p-1.
5. शर्मा, सुषमा, *उपन्यास और राजनीति*, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976, पृ. 60.
6. उपरिवत् पृ. 27.
7. उपरिवत् पृ. 83.
8. उपरिवत् पृ. 27.
9. ‘आदर्श’, ब्रजभूषण सिंह, *हिंदी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन*, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970, पृ. 102.

10. उपरिवत् पृ. 131.
11. शर्मा, सुषमा, उपरिवत्, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976, पृ. 86.
12. उपरिवत् पृ. 51.
13. बाँदिवडेकर, चंद्रकांत, उपन्यास : *स्थिति और गति*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 297.
14. मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 120.
15. राय, गोपाल, *उपरिवत्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 183-184.
16. मधुरेश, *उपरिवत्*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ.129.
17. राय, गोपाल, *उपरिवत्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 184.
18. मदान, इंद्रनाथ, *आधुनिकता और हिंदी उपन्यास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. 65.
19. राय, गोपाल, *उपरिवत्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 240.
20. मधुरेश, *उपरिवत्*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 129.
21. मिश्र, रमदरश, *हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ. 157.
22. राय, गोपाल, *उपरिवत्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 216.
23. मधुरेश, *उपरिवत्*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 126.
24. राय, गोपाल, *उपरिवत्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 219.
25. मधुरेश, *उपरिवत्*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 75.
26. Malik, Yogendra K., *Politics and Novel in India*, Orient Longman, Bombay, 1978, p-35.
27. बाँदिवडेकर, चंद्रकांत, उपन्यास : *स्थिति और गति*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 166.
28. रेणु, *मैला आँचल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 225.
29. मधुरेश, *उपरिवत्*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 185.
30. शर्मा, सुषमा, उपरिवत्, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976, पृ. 60.

पूर्णियाँ जिले का लोकगीत

छोटे लाल बहरदार*

लोकगीत सामान्य लोगों का वह संवेदनात्मक स्वर है, जिसके अंदर उनकी संस्कृति, सभ्यता, आस्था, विश्वास, हर्ष-विषाद आदि की झंझुकी विद्यमान रहती है। इसलिए, किसी भी क्षेत्र के जन-जीवन की वास्तविक स्थिति जानने के लिए वहाँ के लोकगीतों का अध्ययन-विश्लेषण बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है।

पूर्णियाँ जिला बिहार के उत्तर-पूर्वी किनारे पर अवस्थित एक ऐसा महत्वपूर्ण जिला है, जिसे अनेक तरह की सांस्कृतिक विशेषताएँ विरासत के रूप में मिली हैं। इस जिले की उत्तरी सीमा नेपाल राष्ट्र को स्पर्श करती है तो पूर्व सीमा बंगाल प्रदेश का और पश्चिमी सीमा मिथिला का। इसलिए, नैकट्य के कारण पूर्णियाँ जिले के जन-जीवन एवं उसके चिंतन-मनन, दृष्टिकोण, सोच आदि पर इनका अनिवार्य प्रभाव पड़ता रहा है।

नेपाल के तराई क्षेत्र पर मुख्यतः मैथिली प्रभावित संस्कृति विराजमान है। पूर्णियाँ जिले की भाषा में किसी एक भाषा या बोली का प्राधान्य नहीं है। बंगला भाषा की विभाषा श्रीपुरिया एवं वहाँ के अनेक रीति-रिवाजों, पर्व-त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, देवी-देवता एवं मान्यता आदि का स्पष्ट प्रभाव पूर्णियाँ जिले के पूर्वी क्षेत्र पर है। आलोच्य गीतों में सुधी पाठकों को कहीं मैथिली, कहीं अंगिका, कहीं भोजपुरी, कहीं ब्रजभाषा एवं अत्याधुनिक गीतों में राष्ट्रभाषा हिंदी की स्पष्ट झाँकी मिलेगी। इसका कारण जिले के लोक-जीवन में बहिरागतों का बहुत दिनों से प्रवेश है। पूर्णियाँ जैसे सीमांत जिले की भाषा और संस्कृति में एक सामाजिक संस्कृति के लालित्य का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है।

पूर्णियाँ जिले के लोकगीतों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें मुख्यतः नारी-भावनाओं एवं नारी-समस्याओं का चित्रण हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि लोकगीत अधिकांशतः नारियों के पास ही सुरक्षित हैं। वे ही इन्हें जीवित, प्राणवंत

एवं मुखर बनाए रहती हैं। वे ही इन्हें विभिन्न अवसरों पर अपने कोमल कंठों से गाती रही हैं। अतएव, यह स्वाभाविक है कि नारियों द्वारा सुरक्षित एवं प्रयुक्त लोकगीतों में उनकी अंतरात्मा की आवाज, भावनाएँ एवं समस्याएँ फूट पड़ी हैं। नारी का संपूर्ण जीवन ही गीतमय होता है। वे प्रसन्नता के आवेग में भी गीत गाती हैं और दुःख की घड़ी में भी। पूर्णियाँ जिले में प्रचलित सोहर, मुंडन, जनेऊ, विवाह, गौना, झूमर, कजली, होली, छठीमाता, श्यामा-चकेवा, बारहमासा, चैती, जाँता, रोपनी, सोहनी आदि से संबंधित लगभग सारे गीत नारियों के द्वारा ही गाए जाते हैं। फलस्वरूप, इन गीतों में कहीं उनकी हीन सामाजिक स्थिति, कहीं विवाह न होने और दहेज की समस्या, कहीं उनके साथ सास, ननद, देवर आदि का निष्ठुर व्यवहार, कहीं पति की उपेक्षा और वियोग दुःख, कहीं ईश्वर से करुणा विगलित पुकार आदि भावनाएँ फूट पड़ी हैं। दहेज के कारण समाज में नारी के प्रति कितना उपेक्षा भाव है इसे निम्नांकित उदाहरण में देखा जा सकता है

गईया महिसिया बेटी हे द्वारक शृंगार थिके
तहूँ बेटी जीव के जंजाल थिकह है।
एहन समाज पर बज्जर खसेवै,
तिलक प्रथा पर अगिया लगेवै।

पुत्री विवाह की परेशानी पिता को सताती है ही, साथ ही, संपूर्ण परिवार भी आर्थिक विपन्नता को झेलता है। सच मायने में हमारे पुरुष प्रधान समाज में नारियों को बहुत दुःख झेलना पड़ता है। जन्म से उसकी उपेक्षा की जाती है। पुत्री पैदा होते ही सारा परिवार दुःखी हो जाता है। युवावस्था के आते-आते माता-पिता को उनके विवाह की चिंता सताती है और कई बार उनके आक्रोश को झेलना पड़ता है उस अबोध बालिका को। साथ ही, पुरुषों की भोगवादी या वासनात्मक दृष्टि भी उसे परेशान किए रहती है।

परिणामतः वह अजीब कुंठा एवं संत्रास को भोगती रहती है। परेशान होकर उसे कभी ऐसे परिवार में ढकेल दिया जाता है, जहाँ सुख सपना हो जाता है। अपने माता-पिता, भाई-बहन से बिछुड़ने का दुःख अभी भुला भी नहीं पाती है कि सास-ननद के विष-वाण से देह छलनी होने लगती है। आर्थिक परेशानी से विवश होकर यदि पति नौकरी करने परदेश चला जाता है तो घर का एकाकी जीवन और भी काटने जैसा लगता है। एक ओर युवावस्था का मस्ती भरा मन और दूसरी ओर पति-वियोग ऐसे में न तो वर्षा की रिम-झिम अच्छी लगती है और न राका-निशा ही

“बाँध बनाए गैले, पोखरी खुनाई गैले,
पिया परदेश गइले, सिंदुर सपना भइले।”

डॉ. छोटे लाल बहरदार, शंकर चौक, टोली, पूर्णिया 854501 (बिहार)

“पिया परदेश गेले, हमरा के दुःख भेले,
दिन-रात परे मोरा गारी हे सखिया ।”

यदि दो-चार वर्षों के वैवाहिक जीवन के बावजूद पुत्र-रत्न की प्राप्ति नहीं हुई तो सारा परिवार उसे बंध्या मानकर अनेक तरह से सताने लगता है। इस तरह उसका संपूर्ण जीवन ही विडंबना और दुर्भाग्य के अश्रु से सिक्त होता रहता है। इतनी करुणा-विषाद इन गीतों में है जिसे पढ़-सुनकर हृदय द्रवित हुए बिना रह नहीं पाता

“सबके दौरिया हो दीनानाथ लिहलें मँगाय,
बाँझिनी के दौरिया हो दीनानाथ बैठल जमाय ।”

“एकये पुत्र बिना हो दीनानाथ सैरा छै अन्हार,
सासु पढ़े गरिया हो दीनानाथ ननदी चीरे गाल,
गोतनी के बोलिया हो दीनानाथ सहलो न जाय,
हमरो प्रभु के बोलिया हो दीनानाथ, सेहो कुबोल... ।”

नारी भावनाओं की जीवंत अभिव्यक्ति में स्पष्ट रूप से कहीं हर्ष की खिलखिलाहट है तो कहीं विषाद के आँसू। पुत्र-प्राप्ति का मांगलिक क्षण हो या विवाह का आह्लादिक प्रसंग, जनेऊ का अवसर हो या पिया-मिलन की बेला नारियाँ इन क्षणों में अपनी भावना को रोक नहीं पाती हैं और गीत के रूप में अपने कोमल कंटों से खुशी को व्यक्त कर ही देती हैं

ललना लेहूँ सा लालकी बधईया जवन मन भावत हो... ।

इन गीत में जहाँ एक ओर आनंद एवं उछाह के चित्र मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर करुणा एवं दर्द के अनेक कारुणिक प्रसंग भी। पुत्री की विदाई की कारुणिक बेला हो या पति-वियोग का दुःख, वैधव्य का कष्ट हो या पुत्रहीनता का दुःख ये सारे प्रसंग जीवन में दुःखदायी हो होते हैं। इन प्रसंगों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तो देखिए

“आज जनकपुर सूना भेले सखिया हे,
सियाजी चलली ससुरार ।”

“बाईस बरस बीतैय हमरा, सुनियौ कृपानिधान यौ,
निर्धन के बेटी बनि जग में, कतेक सहब अपमान यौ ।”

विवेच्य लोकगीतों में जितनी आंतरिक भावनाओं का प्रस्फुटन देखने को मिलता है, उतनी बाह्य प्रकृति या समस्याओं का चित्रण नहीं। कहीं पुत्र-प्राप्ति की लालसा तो कहीं पिया मिलन की आकांक्षा, कहीं ईश्वर से संकट निवारण की करुण प्रार्थना तो कहीं दीर्घायु या संपन्नता के लिए निवेदन ये सारे प्रसंग आंतरिक भावनाओं को ही

स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इन गीतों में पिया मिलन की आकांक्षा का कितना भावात्मक चित्रण है

“कासे न कहा जात, निंदिया न आवे रात,
विरहा सतावे गात, श्याम न घरबा ।”
“गरजे, बरसे बदरवा, पिया बिनु मोहे न सुहाय ।”

पुत्र-प्राप्ति की आकांक्षा का कितना स्वाभाविक और दर्दनाक भाव इन पंक्तियों में देखने को मिलता है

“एकये पुत्र बिना हो दीनानाथ, सैरा छै अन्हार,
सासु पढ़े गरिया हो दीनानाथ, ननदी चीरे गाल ।”

दुर्दिन या संकट की बेला में जहाँ संकट निवारण के लिए प्रार्थना की जाती है वहीं दीर्घायु या संपन्नता के लिए याचना का स्वर भी कम कातर नहीं होता

“हमरा केवल भरोसा एक बजरंगबली के,
बजरंगबली के हो पवन सुत के... ।”

“कखन हरब दुःख मोर हे भोला दानी,
कखन हरब दुःख मोर ।”

अध्येय लोकगीतों में जो भी सामाजिक समस्याएँ आई हैं, उनमें नारी की हीन सामाजिक स्थिति, दहेज-प्रथा तथा सास-ननद का निष्ठुर व्यवहार ही प्रमुख है। सीता जी के ब्याज से पुत्री कहती है

“कहथिन सीता सुनु ओ बाबा बचन हमार यो,
जिनका आँगन बाबा बेटी कुमार से हो केना सुतल निचित यो ।”

“अन्नधन, संपत्ति बेटी द्वारा शृंगार थिके,
तहूँ बेटी जीव के जंजाल थिकह... हे ।”

इन लोकगीतों में भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता भी स्पष्ट होती है। वह है नारी-चरित्र की दृढ़ता। किसी भी लोकगीतों में नारी को मर्यादा, शील या चरित्र की दृष्टि से गिरते हुए नहीं पाया गया है। नारी हमेशा शील और मर्यादा के लिए अपने वैयक्तिक सुख को सामाजिक सुख के नाम पर अर्पित करती रही है। पति वियोग के दुःख को नहीं सहन करने पर वह आँसू भले बहा ले, परिवार की प्रतिकूल परिस्थिति पर गम का घूँट भले ही पी ले, पर वह परिवार की मर्यादा के उच्चासन से कभी नीचे नहीं उतर सकती। कोई रुपए-पैसे या जेवरों का लोभ दे या सुखमय भविष्य का सपना दिखाए, वह किसी कीमत पर पुरुष के सामने आत्म-समर्पण नहीं कर सकती

“चलुचलु आहे सुगिया हमरो नगरिया,
बैठले खियेबौं गे सुगिया, दूध, भात कटोरिया।
अगिया लगेबौं, बजरा खसेबौं तोहरो नगरिया में...।”

“लेहो-लेहो डाला भरि सोनमा कि डाला भरि रूपा लेहो हे,
सुंदरि हे छोड़ी परदेशिया के आस बटोहिया के साथ चलही हे
अगिया लगेबौं डाला भरि सोनमा कि डाला भरि रूपा में रे,
अगिया लगेबौं बटोहिया के साथ कि परदेशियाँ के आस मोरा हे...।”

शिव-पार्वती, राम-सीता, दुर्गा-काली, सूर्य-चंद्र, हनुमान जैसे भक्तवत्सल अनेक देवी-देवता हैं, जो इन लोकगीतों के प्रयोक्ताओं की नस-नस में बसे हुए हैं। लोगों का संपूर्ण जीवन ही देवतामय और व्रतमय होता है। दैहिक या आर्थिक परेशानी जो भी हो गुहार, देवी-देवता की ही होगी

कखन हरब दुःख मोर हे भोला दानी... कखन हरब।
दुःखहि जनम भेल, दुःखहि गमावल सुख सपनेहूँ नहि भेल...।
मुझमें अवगुण अनेकों हजार है, पर महिमा भी तेरी अपार है,
जरा ताको तो बेरा पार है, विनय तुझे बार-बार है...।

जहाँ भी श्रृंगारिक वातावरण हो, पुरुष कृष्ण बन जाता है और नारी राधा। विवाह के लिए भी लोक जनक नगरी ही जाते हैं और वर-वधू राम और सीता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं

“भला कान्हा हो, जनि मारो पिचकारी”
हाँ-हाँ करत मारत पिचकारी, मानत नाहिं मुरारी,
जौ एक बूँद पड़ी मुख ऊपर, दैहों हजारन गारी...।

राधा-कृष्ण के सुंदर जोड़ी, गावत दै दै तारी...।
“अवध नगरिया से चलल बरतिया, आहो रंग पियरे-पियरे
जनक नगरिया भइले शोर, आहो रंग पियरे-पियरे।”

कहीं पुरुष-नारी का मिलन मन में आनंद का संचार करता है तो कहीं प्रकृति का मनोरम चित्र मन को गुदगुदाता है। पुरुष-नारी का शाश्वत-प्रेम जहाँ एक ओर व्यक्तिगत जीवन में आनंद का संचार करता है, वहीं दूसरी ओर समाज में उल्लास का सृजन भी करता है। कभी राधा-कृष्ण तो कभी सीता-राम के रूप में युवक-युवतियाँ अपनी मादक भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं और जीवन में नूतनता लाते हैं

“तू हे कृष्ण सघन सावन की घटा
राधा तू हे दामिनी दमक रही।
हे कदम वृक्ष, उंमुक्त गगन
झूला हे पवन दुति, झूल रहीं।”

झूला लागे कदम की डारी, झूले कृष्ण मुरारी ना...।
राधा झूले, श्याम झुलावे, पारा पारी ना...।

युवावस्था ऐसी होती है, जिसमें मस्ती और उमंग की भावना अधिक रहती है। प्रकृति का मनोरम वातावरण जहाँ मन में मादक भावनाओं एवं कामनाओं को उद्दीप्त करता है, वहीं दूसरी ओर प्रसन्नता की झलक गीत के रूप में फूट पड़ती है और सारा वातावरण उस खुशबू से महक उठता है। जवानी का वय और प्रकृति का मनोरम श्रृंगारिक वातावरण जब दोनों एक साथ हो जाएँ तो, फिर क्या कहना?

इन पंक्तियों में राधा-कृष्ण की जोड़ी के माध्यम के भावनाओं का कितना सुंदर अंकन हुआ है

राधा झूले श्याम झुलावे पारा-पारी ना,
चारो दिशि से घिरी बदरिया, काली-काली ना...।

सावन उपवन के वन फूले, झूला झूले नंद किशोर
कदम डार में लगा हिडोला, गरजत नभ घनघोर

बरसा फुहार बहे शीतल बयरिया,
सावन मोहक छवि मोह लिया री,
देखे चलु मोरी सखिया...।

व्यक्ति की कोमल भाव-प्रवण एवं सुख-दुःखमिश्रित भावनाओं के अलावा पारिवारिक टूटते-जुड़ते रिश्ते-नाते एवं सामाजिक सहयोग का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र इन गीतों में देखने को मिलता है। व्यक्ति एवं परिवार दोनों के जीवन में बिखराव आ रहे हैं, पारिवारिक रिश्ते आर्थिक परेशानियों के कारण दिन-प्रतिदिन बिखरते जा रहे हैं। व्यक्ति के जीवन की आकांक्षा, कामना एवं भावना की पूर्ति नहीं होने के कारण अनेक उलझनों का जन्म हो रहा है।

सेजवा लगेगा उदास, पिया तोहरे बिना ना,
हमसे रहलो नहीं जात, लोगवा रोज लगावे घात,
कैसे अपनी इज्जतिया बचायब सखिया ना...।

विवेच्य लोकगीतों की परिधि में जहाँ मुख्य रूप से व्यक्ति और समाज की समस्याएँ एवं विशेषताएँ विवेचित हुई हैं, वहीं राष्ट्रीय उत्थान की महान कामना भी

अभिव्यक्त हुई है। व्यक्ति केवल अपनी हित कामना ही नहीं चाहता, वरन् देश के लिए भी सोचता है; और जहाँ राष्ट्र की सोच है, वहाँ राष्ट्रभाषा स्वतः प्रस्फुटित हो जाती है

“बढ़ेगी उपज मेरी खाद पटाने से,
मिटेगी गरीबी मेरा अन्न उपजाने से॥”

मील का कपड़ा छोड़ो बड़ी बरवादी रे,
खादी का कपड़ा पहनो पायी आजादी रे,
खादी मिलेगी भैया चरखा चलाने से॥

एक ओर जहाँ राष्ट्र-कल्याण की कामना देखने को मिलती है वहीं दूसरी ओर समाज-कल्याण की भावना भी। समाज में सबका हित हो, सब आनंद से रहें, चाहे वे ऊँच हों या नीच, बड़ा या छोटा, अमीर हों या गरीब, सामाजिकता एवं सामान्य हित की कामना का कितना सुंदर चित्र है

सदा आनंद रहे एहि द्वारे, मोहन खेल होरी हो
मोहन खेले होरी हो लाला, मोहन खेले होरी हो।

इस तरह, इन लोकगीतों का कैनवास बहुत बड़ा है। इनमें व्यक्तिगत सुख-दुःख, इच्छा-आकांक्षा के चित्रण के साथ-साथ पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की भी झलक देखने को मिलती रहती है।

लोकगीतों में जीवन के प्रति अनासक्ति एवं मृत्यु के बाद की दुनिया के प्रति चिंता का भाव प्रकट होता दिखता है। जीवन में वह एक क्षण भी आ जाता है, जब शरीर की शक्ति चूक जाती है, सांसारिक आकर्षण सारे टूट जाते हैं और मनुष्य सारे आकर्षणों से विलग होकर दुनिया के बारे में सोचने लगता है।

इन लोकगीतों के आधार पर जिस धर्म या संस्कृति का रूप सामने आता है, वह भारतीय हिंदू धर्म या भारतीय हिंदू संस्कृति है। हिंदू धर्म की सारी रूढ़िवादिता एवं विश्वास इन गीतों में गूँजता है। चेचक हो या महामारी, कष्ट हो या परेशानी, लोग हिंदू संस्कृति के अनुरूप ही देवी-देवताओं की अभ्यर्थना के द्वारा कष्टों के निवारण का प्रयास करते दिखते हैं।

विवेच्य लोकगीतों में अभिव्यक्त नारी ऐसी दीपशिखा की भाँति है, जो भारतीय संस्कृति के मंदिर में अनवरत एवं शील की दीप्ति भी है, सबसे बढ़कर उनमें त्याग एवं बलिदान की नीरव आकांक्षा के साथ-साथ कष्टों को झेल लेने का अपार साहस भी है।

शिल्प की दृष्टि से इन लोकगीतों की यह विशिष्टता स्पष्ट है कि इनमें नाटकीय संवाद-पद्धति को अधिकाधिक अपनाया गया है। दो पात्रों के बीच प्रश्नोत्तरी शैली चलती है और गीत आगे बढ़ता जाता है

“किनकर हाथ कनक पिचकारी, किनकर हाथ अबीर झोरी,
कृष्ण के हाथ कनक पिचकारी, राधा के हाथ अबीर झोरी।”

“कौन काठ के बने हिंडोला, कथी केर डोरी ना।
चंदन काठ के बने हिंडोला, रेशम डोरी ना...।”

इस तरह यह शैली इतनी प्रमुख है कि लगभग नब्बे प्रतिशत गीत इसी तरह वार्तालाप या प्रश्नोत्तर युक्त हैं। कहीं पात्रों के साथ वार्तालाप चलता है तो कहीं अप्रत्यक्ष या काल्पनिक पात्रों के साथ।

बहुत से गीत ऐसे हैं, जो हर अंचल में पाए जाते हैं। जिन्हें लोगों ने अपनी-अपनी भाषा के अनुरूप ढाल लिए हैं। पूर्णियाँ के जन-जीवन में रसी-बसी संस्कृति, संवेदना, अनुभूति, विश्वास, आशा-आकांक्षा आदि का बड़ा ही सरल और सफल चित्र जिले के हर अंचल के लोकगीतों में देखने को मिलते हैं।

अवधी लोकगीतों में रामकथा के प्रसंग

सत्यप्रिय पाण्डेय*

लोकगीत सामान्य जनमानस की भावनाओं के उद्गार हैं। इनमें ग्रामीण जनजीवन का राग, हर्ष, विषाद, आकांक्षाएँ सभी दर्ज हैं। कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस पर लोक की अपनी स्पष्ट राय न रही हो। जहाँ तक रामकथा रामचरित का प्रश्न है, अवधी के लोकगीतों में ये प्रसंग बड़ी ही गहराई से उद्घाटित किए गए हैं। तुलसी, वाल्मीकि के राम, सीता, कौशल्या की छवियों में लोक ने अपनी सर्जनात्मक क्षमता से यथासम्भव रचनात्मक परिवर्तन किए हैं। ज्यादातर लोकगीत स्त्री-जीवन को केन्द्र में रखकर गाए गए हैं लिहाजा स्त्री के दुःख-दर्द की चर्चा होते समय सीता, कौशल्या आदि की चर्चा इन गीतों में सहज ही प्राप्त होती है। इन गीतों में इन पौराणिक चरित्रों की इतनी सुन्दर योजना की गई है कि स्त्री के दुःख-दर्द की परम्परा सीता और कौशल्या से जुड़ जाती है, अनुस्यूत हो जाती है। यह इन गीतों की बहुत बड़ी विशेषता है। मातृत्व स्त्री का सौभाग्य माना जाता रहा है। मातृत्व से वंचित होना स्त्री के लिए अपार कष्ट का विषय होता था। उसे तमाम पारिवारिक, सामाजिक, उपेक्षाओं का शिकार होना पड़ता था। राजा दशरथ की तीनों रानियों कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा को कोई सन्तान नहीं हुई। बाद में दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ करवाना पड़ा यह शास्त्रोक्त है, किन्तु एक गीत यहाँ द्रष्टव्य है जिसमें तीनों रानियों के बाँझ होने की चर्चा की गई है। वह गीत इस प्रकार है

कौशिला बियहि दसरथ लावहिं महल बैठावहिं हो।

बहिनी होइगा अजोधिया म सोर कौशिला रानी बाँझिनि ही।

बोलिया तऽ राजा बोलुया त जऽ बिधि पुरवइ हो।

राजा हमरी बहिनी सुमित्रा बियहि लइ आवहु हो।

सुमित्रा बियहि दसरथ लावहिं महल बैठावहिं हो।

* सहायक व्याख्याता, हिन्दी विभाग श्यामलाल कॉलेज, (दिल्ली विश्वविद्यालय), आवासीय पता- 13/258, भूतल, वसुन्धरा, गाजियाबाद, उ.प्र., पिन कोड- 201012; मोबाइल न. 8750483224

बहिनी होइगा अजोधिया म सोर सुमित्रा रानी बाँझिनि हो।

बोलिया तऽ राजा बोलुया त जौं बिधि पुरवइ हो।

राजा हमरी बहिनी कैकेयी बियहि लइ आवहु हो।

कैकेयी बियहि दसरथ लावहिं महल बैठावहिं हो।

बहिनी होइगा अजोधिया म सोर तीनउ रानी बाँझिनि हो।

इसके अतिरिक्त रामकथा से जुड़ा हुआ राम-वनवास का प्रसंग बड़ा ही मार्मिक है। कैकेयी ने राम के लिए वनवास माँगा और भरत के लिए राजगद्दी। इसी प्रसंग पर आधारित एक लोकगीत देखा जा सकता है

घर-घर फिरहि नउनिया त गोतनी बोलावइ हो।

गोतिनि आज मोरे राम कै बरहिया सबहि केउ आयुहि हो।

केउ सखि नाचत आवहिं त केउ बजावत हो।

मोरी बहिनी कैकेयी क पड़ा बिस्मात महलिया नहि आवइ हो।

सोने कै खड़ुँवा राजा दसरथ त कैकई महल गए हो।

रानी कौन संकट तोहरे जियरा महलिया नहि आइउ हो।

काउ कही मोरे राजा कहत लजिया लागइ हो।

राजा राम क देत्या बनाबास भरत राज बेहसइ हो।

बोलिया तउ रानी बोलिउ, बोलइ नहिं जानिउ हो।

रानी मारिउ करेजवा बीच बान करेजवा हमरा सालइ हो।

जौन राम अँखिया क पुतरी नयनवा से न उतरहिं हो।

तौन राम बन चला जइहें जियब हम कइसे क हो, रहब हम कैसेक हो।

यह गीत एक सोहर गीत है। सोहर पुत्र जन्म के अवसर पर गाए जाते हैं। वैसे एक बात और इन गीतों के बारे में देखी जाती है कि इन गीतों में कथा-प्रसंगों की आपस में मिलावट कहीं-कहीं देखने को मिलती है। चूँकि ये गीत ग्रामीण स्त्रियाँ अपनी स्मृति के आधार पर गाती हैं। कई बार उन्हें कोई गीत पूरी तरह हू-ब-हू वैसा ही याद नहीं रहता तो गाते-गाते बीच में दूसरे गीतों की पंक्तियाँ गा देना स्वाभाविक है। मसलन उपर्युक्त गीत का ही प्रसंग देखें तो ऊपर की पंक्तियों में राम की बरही (जन्म के बारहवें दिन मनाया जाने वाला उत्सव) का प्रसंग आया है, जिसमें सभी स्त्रियाँ कौशल्या के पास नाचते-गाते हुए आ रही हैं, बड़े ही हर्ष और उल्लास का वातावरण है किन्तु बाद की पंक्तियों में कैकेयी द्वारा राम के लिए वनवास माँगे जाने की घटना का वर्णन है। दशरथ कैकेयी को मनाने जाते हैं। तो वह कहती है कि राम को वनवास दे दीजिए और भरत को राजगद्दी। इसके बाद दशरथ की जो मनःस्थिति होती है वह बहुत ही कारुणिक है। उन्होंने कैकेयी से कहा कि तुमने मानो हमारे हृदय में बाण मार दिया हो और वह बाण मेरे हृदय को दग्ध कर रहा है और राम मेरे नेत्रों की पुतली

हैं, वे वन चले जाएँगे तो मैं जिऊँगा कैसे? मानस में भी इसी भाव को अभिव्यक्ति दी गई है कि मानो यह वरदान माँगकर तुमने मेरी मृत्यु ही माँग ली है

लखी नरेस बात फुर साँची /तिय मिस मीचु सीस पर नाची ।।

रा. च. मा. अयो. 33 105

बहरहाल, इस सोहर के माध्यम से वनवास माँगने की घटना का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है।

राम को वनवास दिए जाने की घटना को सुनकर उनकी माँ कौशल्या को अत्यन्त कष्ट होता है। उनकी स्थिति बड़ी ही दुविधापूर्ण है, वे न तो राम को जाने से रोक सकती हैं और न ही जाने को कह सकती हैं, एक-तरफ स्नेह है तो दूसरी तरफ धर्म है

धरम सनेह उभयँ मति घेरी। भङ्गति साँप छँदुर केरी ।।

रा. च. मा. अयो.54 । 03

एक गीत में कौशल्या की इसी पीड़ा को वाणी दी गई है

*चन्दन काठे क पिढ़हिया त मोतियन झालर लागी हो ।
अब सेंहे चढ़ि बैठीं कौशिसला रानी मोतियन आँसु डुरइ हो ।
सोने क खड़ुवाँ श्री राम त माई से अरज करैं हो ।
माई कौन संकट तोहरे जियरा न मोतियन आँसु डुरइ हो ।
की तोरा मुड़वा पिराने त देह अलसानेहिं हो ।
माई के हो जनक धेरिया बोलेनि त नैननि नीर चुवै हो ।
नाहीं मोरा मुड़वा पिराने न देह अलसानेहिं हो ।
बेटा नाहीं जनक धेरिया बोलेनि, नयनवा न नीर चुवै हो ।
बेटा सुनी थै जाब्या मधुबनवा अकेले कइसे रहबै हो ।
केका मैं ढकबै कलेवना त केहिं गोहरउबै हो ।
बेटा केकरी टहलिया उठि कै लगबै त जियरा बुझउबै हो ।
लछिमन कै ढाँकू कलेवना त शत्रुहन गोहराइउ हो ।
माई भरथा टहलिया उठि लागिउ हमहिं बिसराइउ हो ।
जवनी ककहिया हमरी बैरिनि बैर हमसे रोपेसि हो ।
बेटा तवनी ककहिया कै लरिकवा हम कइसे बोलउबइ हो ।
अपनी महल रानी ककही बिरह बोलिया बोलइँ हो ।
बहिनी जेकर राम बन सेइहैं निदरिया कइसे लागि हैं हो ।
हमरै राम बन जइहैं निदरिया हमरे लगिम्हैं हो ।
बहिनी छुटि ग बझिनिया क नाउ भलेहिं रामा बन गए हो ।*

येस जिनि जानिउ मोरि माई कि रामा बन सेइहैं हो ।

भाई चौदह बरिसि बन सेउब लवटि चला आउब हो ।

जवने घाटे रामा मोर नहइहैं त धोतिया पछरिहैं हो ।

पापिनि कै पाप कटि जइहैं तिनौ जनि तरबै हो ।

जे एहि मंगल गावै त गाइ के सुनावै हो ।

अरे तरि बैकुण्ठ क जाइ परम पद पावै हो ।

कौशल्या चन्दन की लकड़ी के पीढ़े पर बैठी हैं और मोतियों की झालर लगी है किन्तु आँसू निकल रहे हैं। राम सोने की खड़ाऊँ पहने हैं और कौशल्या से पूछ रहे हैं माँ तुम्हारे हृदय में किस बात का कष्ट है कि तुम रो रही हो। क्या तुम्हारे शरीर में कोई पीड़ा है अथवा जनकनंदिनी सीता ने कुछ कहा है, आखिर बात क्या है? कौशल्या ने कहा न तो हमें कोई कष्ट है और न ही सीता ने कुछ कहा है, बेटा मैं सुन रही हूँ कि तुम वन में जा रहे हो मैं तुम्हारे बिना अकेले कैसे रहूँगी। मैं कलेवा (बासी भोजन) किसके लिए रखूँगी और किसे बुलाऊँगी। मेरे जीवन में कोई कार्य ही नहीं रह जाएगा मैं अपने-आपको कैसे समझा पाऊँगी? राम ने कहा माँ तुम लक्ष्मण के लिए कलेवा रखना और किसी कार्य के लिए शत्रुघ्न को बुलाना तथा भरत का ध्यान रखना और मुझे भूल जाना। कौशल्या ने उत्तर दिया कि बेटा यह बड़ी भारी बिडम्बना है कि जिस कैकेयी ने हमसे बैर ठाना है, जो मेरी दुश्मन हो गई है, मैं उसी के पुत्र भरत को कैसे बुलाऊँगी। अपने महल पर चढ़कर कैकेयी व्यंग्य कर रही है कि जिस माँ का पुत्र वन में रहेगा उस माँ को नींद कैसे आएगी। इसके उत्तर में कौशल्या कहती हैं कि मेरे राम वन जाएँगे और मुझे नींद भी आएगी क्यों कि राम वन भले जा रहे हैं किन्तु मेरा बाँझिनि का नाम तो छूट गया। राम ने कहा माँ ऐसा मत समझना कि मैं वन में ही रहूँगा। मैं चौदह वर्ष बिताकर पुनः वापस आऊँगा। कौशल्या कहती हैं कि मेरे राम जिस घाट पर नहाएँगे, अपनी धोती धोएँगे, उसमें नहाने से पापियों के पाप धुल जाएँगे और हम तीनों भी तर जाएँगी।

दरअसल यह गीत भी सोहर का ही गीत है आज भी गाँवों में (अवधी क्षेत्रों) में इस तरह के गीत गाए जाते हैं। इन गीतों को सुनकर हमारी आँखों में सहज ही अश्रु आ जाएँगे यही इन गीतों की ताकत है। आज भी किसी का बेटा उसकी आँखों से दूर हो रहा होता है तो उसे राम के वन जाने का दृश्य याद आकर उसके हृदय को आप्लावित कर देता है। वह माँ आज भी इसी तरह के गीत गुनगुनाकर रोने लगती है। इस गीत में यह भाव भी निहित है कि कौशल्या के राम को भले वनवास मिला, किन्तु कौशल्या का बाँझिनि होने का कलंक तो छूट गया। बाँझिनि होने का दुःख इस वियोग की पीड़ा से कहीं अधिक रहा होगा, तभी गीत में इस तरह के भाव दिखाई पड़ते हैं। यह गीत अपने समय के इस दर्द को भी अपने भीतर संहेजे हुए है। इसके

अतिरिक्त इस गीत में कौशल्या कैकेयी को जो जवाब देती हैं। वह बहुत ही महत्वपूर्ण है वह यह कि हमारे राम जिस घाट पर नहाएँगे, कपड़े धोएँगे वह तीर्थ में बदल जाएगा और उसमें नहाकर लोगों का उद्धार होगा और हम तीनों भी तर जाएँगी। ये गीत अपनी प्रकृति में संवादधर्मिता भी लिये हुए हैं। इनमें प्रश्न और उत्तर की शैली भी दिखाई पड़ती है इनमें रागात्मकता और लयात्मकता भी है। ये सभी तत्त्व मिलकर इन गीतों को साहित्यिक दृष्टि से समृद्धि प्रदान करते हैं।

सीता निष्कासन का प्रसंग रामकथा का बड़ा ही कारुणिक प्रसंग है। यह रामकथा का ऐसा प्रसंग है, जो राम को लेकर कई सवाल खड़े करता है। इस घटना पर भी अवधी में कई गीत गाए जाते हैं और ये गीत कहीं-न-कहीं प्रश्न की मुद्रा में दिखाई पड़ते हैं। प्रश्न यह कि आखिर राम ने सीता को निकाला क्यों? वाल्मीकि रामायण या अन्य रामायण (रामचरितमानस को छोड़कर क्योंकि मानस में यह प्रसंग ही नहीं है) जहाँ भी यह कथा आती है वहाँ सीता निष्कासन का तार्किक कारण भले वर्णित हो किन्तु हमारा लोकमन, लोकजीवन उन तर्कों से न तो आज तक सहमत हो सका है और न ही राम के इस कदम की प्रशंसा ही करता है। इसकी थोड़ी भनक इन गीतों में सुनी जा सकती है

जेठे कै दुपहरिया त गरमी बहुत भई हो।

रामा निकारैं आपन सीता त गरुहे गरभ सनि हो।

बनहिं बीच सीता रोवहिं बनहिं बीच झंखहिं हो।

अब के न हमरे आगे पीछे होइहैं बनलह जुरवा छोड़िहै हो।

गीत के अनुसार जेठ की प्रचंड गर्मी में राम ने अपनी सीता की गर्भावस्था की स्थिति में निकल दिया। बन में सीता रो रही हैं, व्यथित हैं और सोच रही हैं कि आखिर अब कौन हरदम हमारा ध्यान रखेगा और मेरे बँधे हुए जूड़े को कौन खोलेगा। प्रकारान्तर से इस गीत में सीता और राम के दाम्पत्य स्नेह को भी दिखाया गया है जिसकी स्मृति सीता को कष्ट दे रही है। जो राम सीता से अगाध स्नेह करते थे वही राम सीता को इस स्थिति में घर से निकाल देते हैं यह सीता के लिए असहनीय है मानस में राम सीता के दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर झाँकी दिखाई पड़ती है जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए।

सीतहिं पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक शिला पर सुन्दर।।

रा. च. मा. अरण्यकाण्ड

इन गीतों की विशेषता यह भी है कि इनमें कहीं-कहीं नवीन उद्भावनाएँ, नवीन कथा-प्रसंगों की योजना भी की गई है, जो इनकी सर्जनात्मकता का ही प्रतिफल है। सीता निष्कासन के उपरान्त एक बार वन में सीता और राम की भेंट होती है और वहाँ

राम सीता से लौटने का आग्रह भी करते हैं किन्तु सीता राम के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती हैं। इस तरह का प्रसंग एक गीत में देखा जा सकता है।

चारिनि खूँटे कै पोखरवा त रामा दतुइन करैं हो।

अब सोने के घड़लवा सितल रानी झुकवन पानी भरैं हो।

रामा लपकि धरैं दाहिनि बहियाँ चलहु धँवराहरि।

छोड़ो न रामा मोरि बहियाँ त मोहि अपराधिनि कहै।

जैसे करहिया म तेल जलै उबलि उबलि जलै।

रामा वइसे जलै मोरा जियरा सपनवा न चित मिलै।।

का ऐसे रामा के घर रहे का मधुवन गए।

एकहु अहकिया न पुरएन अजोधिया म रहिके।।

इसमें सीता कह रही हैं कि जैसे कड़ाही में तेल उबलता है और जलता है वैसे ही मेरा हृदय जल रहा है और हे राम सपने में भी तुमसे मेरा चित्त नहीं मिलता। ऐसे राम के लिए जैसे घर वैसे वन क्योंकि तुम्हारे साथ अयोध्या में रहते हुए मेरी एक भी इच्छा पूरी नहीं हुई है। यह कचोट है सीता के मन की, जिसको इस लोकगीत में वाणी मिली है। हमारे लोकगीतों, लोककथाओं की ताकत इसी रूप में देखी जा सकती है कि वह अन्यायी को अपने तरीके से फटकार भी लगाती है चाहे वह राम ही क्यों न हों? इस प्रसंग में राम कटघरे में खड़े दिखाई पड़ते हैं। आज स्त्री-विमर्श जिस सीता निष्कासन वाली घटना को उदाहरण बनाकर राम को प्रश्नांकित कर रहा, यह लोकगीत इस कार्य को अपने तरीके से कितने पहले कर चुका है, इसी से इन गीतों की क्रान्तिदर्शिता स्पष्ट है।

सीता निष्कासन काल के दौरान ही वन में लव और कुश का जन्म होता है। बड़ी ही विषम परिस्थिति में सीता घिरी हुई दिखाई पड़ती हैं। वन तपस्विनियों ने सीता को इस परिस्थिति में सहारा दिया। यह सब गीतों में वर्णित है। पुत्र जन्म के अवसर स्त्री के ससुराल रोचन (हल्दी तेल आदि) भेजा जाता था। यह शुभ समाचार का संकेत होता था। सीता ने भी अयोध्या के लिए रोचन भिजवाया और उसके माध्यम से उनका आक्रोश भी अभिव्यक्त हुआ है वह इस सोहर गीत में द्रष्टव्य है

पहिला रोचन राजा दसरथ दुसरा कौशिला रानी।

तिसरा रोचन लछिमन देवरा पपिहवा न जनाएव।

जवने रामा हमका मारेनि घर से निकारेनि।

तवने पपिहवा क मुँहवा अब कइसे क देखवै।।

सोनवाँ की नइयाँ रामा लायेन कि जल से बुझायेन।

ककरी की नइयाँ जियरा फारेन सपनवा न चित मिलै।

सीता उस रोचन ले जाने वाले को निर्देश देती हैं कि पहला राजा दशरथ को देना और दूसरा कौशल्या रानी को तथा तीसरा देवर लक्ष्मण को देना और उस पापी राम को पता भी नहीं चलना चाहिए। जिस राम ने हमें मारा और घर से निकाल दिया। उस पापी के मुँह को अब मैं नहीं देख सकती। उसने हमें सोने की तरह जलाया और तपाया है बुझाया है, जिसमें हमारे हृदय को ककड़ी की तरह फाड़ दिया है उससे मेरा चित्र सपने में भी नहीं मिल सकता।

इन गीतों के साथ एक बात और जुड़ी हुई है वह है घटनाओं की तारतम्यता का अभाव। मसलन इन गीतों में पहला रोचन दशरथ को देने की बात कही गई है जबकि कथा के अनुसार उस समय तक दशरथ जीवित नहीं थे। राम वनवास के तुरन्त बाद उनकी मृत्यु हो गई थी, किन्तु गीत में यह तारतम्यता खोजना भी उचित नहीं है। ये गीत न जाने कब से गाए जा रहे हैं और श्रुति परम्परा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अब तक चले आ रहे हैं इनमें घटना एवं कथा-प्रसंगों में कहीं-कहीं विच्छेद होना एकाधिक गीत रूपों का प्राप्त होना आदि स्वाभाविक स्थितियाँ हैं, किन्तु इन गीतों का भाव पक्ष बड़ा ही प्रबल है, इनमें गहरी मार्मिकता है। अब यह आवश्यक नहीं कि ये सारे प्रसंग ज्यों के त्यों शास्त्र-सम्मत ही हों, लोक शास्त्र का मुहताज नहीं होता, लोक के अपने प्रतिमान होते हैं अपनी शैली होती है, उसमें भावप्रवणता एवं कल्पनाशीलता के लिए पर्याप्त अवकाश होता है। इन गीतों में आक्रोश की धार जो दिखाई पड़ती है वह अन्याय अथवा अत्याचार के प्रतिकार से निर्मित हुई है। वह प्रतिकार चाहे कभी सीता का राम के प्रति रहा हो अथवा किसी सामान्य स्त्री का अपने अन्यायी पति के प्रति रहा हो उसकी धार कभी कुन्द नहीं हुई। प्राचीन काल से ही पुत्र का प्रसव स्त्री के लिए परम सौभाग्य माना जाता रहा है और इसकी प्राप्ति का गर्व होना भी स्वाभाविक था। उपरोक्त गीत में सीता का स्वाभिमान इसी रूप में परिलक्षित हो रहा है। वे इस परम सौभाग्य से राम को वंचित रखना चाहती है, कम-से-कम इसी बहाने ही राम को अपनी भूल एहसास हो। यहाँ सीता का स्वाभिमान मुखर रूप में देखा जा सकता है।

इस रूप में कुछ गिने-चुने अवधी के सोहर गीतों के माध्यम से यहाँ रामकथा के विविध प्रसंगों को दिखाने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त और बहुत से गीत रूप लोक में गाए जाते हैं जिनमें रामकथा, रामचरित के प्रसंग भरे पड़े हैं।

समीक्षा लेख

भारत की जातीय पहचान*

रामचन्द्र प्रधान**

आज मानव जाति एक विशेष संकट के दौर से गुजर रही है। इसका साया व्यक्ति से ब्रह्मांड तक फैला हुआ है। इस संकट का एक रूप तो हत्या-हिंसा के बढ़ते-फैलते साम्राज्य में देखा जा सकता है। वस्तुतः संघर्ष-निवारण के जितने अहिंसक वैचारिक और संस्थागत ढाँचा मनुष्य ने बनाया था वह एक एक कर ढहता चला जा रहा है। इसमें जातीय और धार्मिक चरमपंथी आग में घी डालने का काम कर रहे हैं। इस संकट का दूसरा आयाम है ब्रह्मांड के जीवनदायिनी और प्राण रक्षक तत्त्वों का लगातार नष्ट होते जाना। धरती का गर्म होना, जमीन की उर्वरता में कमी, ध्रुवीय बर्फ के गलने से जलप्लावन का बढ़ता खतरा, मौसम में अचानक बदलाव आना, ओजोन की छतरी में छेद होना, आदि समस्याएँ मनुष्य के द्वारा प्राकृतिक, साधनों का अत्यधिक दोहन के परिणाम हैं। इन सभी समस्याओं की जड़ में मनुष्य की भौतिक सुख-संपदा प्राप्त करने की असीमित ललक है। आज मनुष्य सीमित प्राकृतिक साधनों से असीमित तृष्णा की पूर्ण तृप्ति की तलाश में जुटा है। इस प्रक्रिया में असंतोष, अतृप्ति और अशांति का भाव ही उसकी नियति बनती जा रही है।

अपने देश भारत में इस क्रम में एक विशेष सांस्कृतिक संकट सामने आ रहा है। अपनी जीवन-शैली और सामाजिक मूल्यों के पश्चिमीकरण की द्रुतगामी दौड़ में हम अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपरा से कटते जा रहे हैं। भौतिक सुख-संपदा की तलाश में हमारा समाज बिखरता जा रहा है। इसका सीधा असर हमारी युवा पीढ़ी पर पड़ रहा है। वे न मात्र अपनी परंपरा से वंचित होते जा रहे हैं, बल्कि उनके मन में इसके प्रति वितृष्णा का भाव भी भरता जा रहा है। इस भूमंडलीकरण और नव

*सनातन मूल्य, डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 150/-, 2011

**रामचंद्र प्रधान, गांधी विचार परिषद, वर्धा, महाराष्ट्र

साम्राज्यवादी युग में भारत की समस्त नैतिक और आध्यात्मिक परंपरा संकट में पड़ी दिख रही है।

एक कहावत है कि मनुष्य को संकट के समय पुरखों की याद आती है। भारत के संवेदनशील लोगों के दिलोदिमाग में इस आगत संकट का एहसास हो रहा है; अपनी पूरी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपरा पर एक नई दृष्टि डालकर उसको युगानुकूल बनाने के प्रयास की जरूरत लग रही है। भारत के सांस्कृतिक संरक्षण की यह पुरानत-सनातन प्रथा रही है। इसमें परंपरा और परिवर्तन के बीच तालमेल बैठाने की सनातनता का प्राण नाड़ी रही है। आज कई कारणों से हमारा सांस्कृतिक संकट गहराता चला जा रहा है। आज आजाद भारत में गुलाम भारत के दौर से भी यह सांस्कृतिक संकट ज्यादा विकराल रूप धारण करते जा रहा है। इसके कई कारण हैं। एक तो संचार साधनों में बेताहासा वृद्धि होने से विश्व एक ग्लोबल विलेज का रूप धारण करते जा रहा है; इससे सबल पश्चिम की अपनी भौतिकवाद पर आधारित सांस्कृतिक गाड़ी ज्यादा तेज दौड़ने लगी है। उसके रास्ते में आने वाली सभी रुकावटें धराशायी हो रही हैं। मार्क्सवादी समाज की वैकल्पिक व्यवस्था की संभावना के खात्मा से आधुनिक व पश्चिमी सभ्यता को सपाट सांस्कृतिक मैदान मिल गया है, जिसमें उसकी वर्चस्वता को चुनौती देनेवाला कोई संगठित प्रयास नहीं है। और तो और भारत और चीन जैसे प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के देश का नेतृत्व वर्ग भी पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्य के सामने हथियार डाल चुका है। इतना ही नहीं, अशोक मेहता के शब्दों को उधार लेकर कहें तो भारत और चीन ने पश्चिम के सांस्कृतिक बीज के लिए अपना गर्भाशय खोल रखा है। एक बात और। भारत और चीन के गाँव जो कभी अपनी अपनी संस्कृति संरक्षण के मुख्य किले हुआ करते थे, आज पश्चिम के लिए उनका प्रवेश द्वारा बन चुके हैं। इन सारी बातों के चलते इस सांस्कृतिक संकट का विकराल रूप सामने आ रहा है।

ऐसा भी नहीं है कि संवेदनशील लोग इस संकट की पहचान नहीं रहे हैं। लोगों के दिमाग में उहापोह चल रही है। कृष्ण बिहारी मिश्र की वर्तमान पुस्तक उसी सांस्कृतिक उहापोह की प्रतीक है। कृष्ण बिहारी मिश्र एक जाने माने लेखक और संस्कृतिकर्मी हैं। धर्म-संस्कृति के क्षेत्र में लिखने के लिए उन्हें कई पुरस्कारों से अलंकृत किया गया है। पुस्तक के दो सौ पचास पृष्ठ, दस अध्याय और दो परिशिष्टों के माध्यम से मिश्र इन सांस्कृतिक प्रश्नों के विभिन्न आयामों पर विचार करते हैं।

मुख्य रूप से प्रस्तुत सामग्री तीन भागों में बाँटी जा सकती है। पहले के छह अध्यायों में भारत के जातीय आस्था विश्वास के, जिसे मिश्र जातीय प्रत्यय कहते हैं, विभिन्न आयामों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दूसरे भाग में उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के पूर्वाध में विभिन्न संस्कृति-समाज-राजनीति कर्मियों जैसे राम कृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद, महात्मा गांधी, स्वामी समतीर्थ आदि

के सांस्कृतिक प्रयासों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में मिश्र ने यह भी स्थापना रखी है कि उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक सुधार के आंदोलन जैसे ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, महाजन सभा आदि चले थे वे वस्तुतः पश्चिम की सांस्कृतिक आँधी से प्रभावित थे और इसीलिए वे भारत की आत्मा को छूने में असफल रहे। तीसरा भाग परिशिष्ट का है जिसमें मुख्यतया स्वर्गीय विद्या निवास मिश्र के लोक शास्त्र ज्ञान के अद्भुत समन्वय पर विशेष जोर दिया गया है। पहले भाग में भारतीय जातीय प्रत्यय के विभिन्न आयामों को रेखांकित करते हुए मिश्र कहते हैं कि इसमें पश्चिम के मानवतावाद से हटकर मनुष्य के स्थान पर लोक को वरीयता दी गयी है। और हमारी लोक की अवधारणा में मनुष्येतर समस्त जीव-जंतु, समस्त वनस्पति लोक, नदी, समुद्र, पर्वतीय क्षेत्र आदि समाहित हैं। इससे सनातन धर्म-संस्कृति की उदारता और विशालता का परिचय मिलता है। इसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। पश्चिम के संकीर्ण मानवतावाद से निकली प्रकृति विजय की अवधारणा के मुताबिक विश्व के जीव-जंतु और प्राकृतिक साधनों का उपयोग मनुष्य की सुख-सुविधा बढ़ाने के लिए किया जा सकता है, किया जाना चाहिए। आज जो पर्यावरण का संकट मनुष्य के सामने है, यह उसी पश्चिमी सोच और नीति का परिणाम है। इसके विपरित सनातन संस्कृति मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य की पक्षधर थी। आज भी इस आसन्न संकट से उबरने का रास्ता सनातन धर्म-दृष्टि से निकल सकता है।

इस सनातन धर्मदृष्टि का दूसरा आयाम है भौतिकता और आध्यात्मिक का अपूर्व समन्वय। इसमें भौतिकता को नकारने की बात है ही नहीं, इसमें इसकी सीमा पर जोर है। मिश्र बतलाते हैं कि हमारी संस्कृति में चार पुरुषार्थों— धर्म अर्थ, काम मोक्ष— की बात कही गयी जिसमें अर्थ और काम भौतिकता के प्रतीक हैं, तो धर्म और मोक्ष आध्यात्मिकता के। यह मनुष्य के जीवन की सफलता और सार्थकता की अप्रतिम कल्पना है। इसे ही इशोनिषद में त्याग से भोग करना कहा गया है। इस प्रकार धर्म की पहरेदारी में भोग की छूट दी गयी है ताकि मनुष्य मात्र एक इंद्रियभोगी और सुखभोगी प्राणी बन कर न रह जाए। साथ ही उसे अपने गंतव्य मोक्ष तक पहुँचने में भी सुविधा हो।

यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि सनातन संस्कृति का शब्द 'धर्म' पश्चिमी सभ्यता के शब्द 'रिलिजन (Religion)' का पर्यायवाची नहीं है। इसलिए हमारी धार्मिकता का धर्म निरपेक्षता से विरोध नहीं है। धर्म निरपेक्षता तो पश्चिम से आयातित अवधारणा है। इसमें धर्म संस्थान (चर्च) और राज्य संस्थान के अलगाव विलगाव पर जोर है। लेकिन सनातन संस्कृति की धार्मिकता में ही बहुत उच्च स्तर की धर्म निरपेक्षता यानी सर्वधर्म समभाव अंतर्निहित है। क्योंकि पश्चिम की धर्म निरपेक्षता या बहुल संस्कृतिकवाद में एक उथले प्रकार की सहिष्णुता पर जोर है, जब कि सर्वधर्म समभाव की यात्रा काका कालेलकर के शब्दों में सर्वधर्म ममभाव तक जाती है।

वस्तुतः धर्म तो सत्य का ही पर्यायवाची है। यह तो समाज और संसार का धारक तत्त्व है। संसार तो सदा से प्रपंच रूप ही रहा है, आगे भी रहेगा। लेकिन प्रपंच भी धर्म के बिना, सत्य के बिना नहीं चल सकता। प्रपंच को भी परमार्थ का आधार चाहिए। इसीलिए ऋग्वैदिक ऋषि का यह उद्घोष *सत्यनोत्त भिता भूमि* (सत्य ही पृथ्वी को धारण करता है) आज भी प्रासंगिक है, जितना पहले था। हमारी परंपरा में यह भी कहा गया है कि 'अधर्म से मनुष्य संपन्न हो सकता है, प्रेम की प्राप्ति कर सकता है, शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। लेकिन इस मार्ग पर जाने पर वह स्वयं समूल नष्ट हो जाएगा।'

सनातन धर्म-संस्कृति का तीसरा आयाम है विचार और आचार में साम्यता। यानी कथनी और करनी में एकरूपता। इसलिए हमारी परंपरा में आचार को परम धर्म कहा गया है। यही कारण है कि यहाँ लोग उन्हीं लोगों की बात सुनते हैं, उन्हीं ही आदर्श मानकर अनुकरण करते हैं, जो अपने जीवन और कर्म से लोगों के समक्ष उदाहरणकर्ता के रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं। रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, दयानंद, विवेकानंद और महात्मा गांधी की लोकमान्यता का यही आधार है। इसीलिए तो महात्मा गांधी ने कहा था कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।

सनातन संस्कृति का चौथा तत्त्व है बुद्धि और विश्वास का सम्यक समन्वय। बुद्धि और विश्वास एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं, विरोधी नहीं। यही हमारी समस्त आध्यात्मिक साधना का मूलाधार रहा है। इस क्रम में अंधविश्वास को हटाकर विश्वास की ज्योति जलानी है और स्वार्थमयी बुद्धि के स्थान पर विशुद्ध प्रज्ञा का दीप प्रज्वलित करना है और यहीं है अभ्युदय और निःश्रेयस की यात्रा का प्रस्थान बिंदु। भगवद्गीता तो बुद्धि और विश्वास के सम्यक समन्वय की अधिष्ठात्री ही रही है। उसके अंतिम अध्याय में एक तरफ तो कृष्ण अर्जुन को अपनी शरणागति में आने की बात करते हैं तो दूसरी तरफ अपने द्वारा प्रदत्त गुह्य ज्ञान को विवेक की तुला पर तौल कर अपने कर्म व्यवहार में लाने की बात भी करते हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं। यह तो बौद्धिकता और विश्वास की एकात्मकता का उच्चतम शिखर है। और यही रहस्य है गीतों की सर्वयुगीन प्रासंगिकता का।

लेखक सनातन संस्कृति के एक अन्य पक्ष को उजागर करते हुए यह स्थापना रखते हैं कि हमारी परंपरा में ही परिवर्तन की धारा अंतर्निहित है। इसी कारण हमारी संस्कृति परतंत्रता सहित अनेक तरह की चुनौतियों का सामने करती हुई अपने मूल स्वर को सुरक्षित रखने में सक्षम होती रही है। इसमें हर युग में अपने को समसामयिक रूप में प्रस्तुत करने की अद्भूत क्षमता है। इसमें फिनिक्स पक्षी की तरह पुनर्जीवित होने की हमेशा क्षमता रही है। और यह काम धर्मध्वजियों द्वारा नहीं बल्कि धर्मजीवियों द्वारा संपन्न होता रहा है। बुद्ध, महावीर, आदि शंकराचार्य से लेकर महात्मा गांधी तक ऐसे धर्मजीवियों की लंबी परंपरा रही है।

लेखक अपनी पुस्तक में भारतीय जाति की पहचान की एक अन्य विशेषता की तरफ भी पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। वह विशेषता है, दूसरे धर्म संस्कृति और देश क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित करने की प्रेरणा और प्रवृत्ति का संपूर्ण अभाव और इसका आधार हमारा यह विश्वास रहा है कि सत्य तो एक ही है, लेकिन विभिन्न विद्वदजन उसे अलग अलग रूप में देखते और कहते हैं। इसे ही जैन धर्म में स्यादवाद और अनेकांतवाद के नाम से जाना जाता है। महात्मा गांधी इसे ही संपूर्ण और सापेक्षिक सत्य कहते थे। और सत्य की यही परिकल्पना गांधी के सत्याग्रह का मूलाधार है। क्योंकि सबके अपने अपने सापेक्षिक सत्य हो सकते हैं। इसलिए हिंसक मार्ग पर चलकर दूसरों पर अपनी बात थोपना, उन पर आधिपत्य जमाना एक निषिद्ध मार्ग है। इस क्रम में तो अहिंसा का ही द्वार और मार्ग खुलता है।

लेखक पुस्तक के कई अध्यायों में हमारी संस्कृति की वाचिक और कर्मकांडी परंपरा की तरफ पाठक का ध्यान खींचता है। वाचिक परंपरा के माध्यम से साक्षर-अनाक्षर, पढ़-अपढ़ का भेद मिटता था। यह शास्त्र को लोक में ले जाने का सबसे सशक्त साधन था। इसमें कथावाचक से लेकर संगीतकार और प्रवचनकर्ता की अहम भूमिका होती थी। इस प्रक्रिया में शास्त्रज्ञान और लोकज्ञान का भी तालमेल बैठता था। और पूरी परंपरा का सर्वस्व-सार लोक तक आप से आप पहुँच जाता था। उसी तरह हिंदू कर्मकांडी व्यवस्था की भी अपनी अलग भूमिका थी। इसका मुख्य उद्देश्य था अपने संस्कृति के विभिन्न आयामों को धार्मिक कर्मकांड का रूप देकर लोगों के दिलोदिमाग में बैठाना। इसका दूसरा उद्देश्य था अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखते हुए मनुष्य के जीवन में अनुशासन बनाए रखना और प्रकृति के विभिन्न रूपों की अहमियत को समझ कर उनका आदर करना। लेखक मानता है कि कर्मकांड मात्र दिखावा होने पर पाखंड में बदल जाता है। उसके लिए श्रद्धा-विश्वास के साथ साथ बौद्धिक सजगता की भी जरूरत होगी। ऐसा करने पर मनुष्य लघुता के द्वारा को पार कर 'महत्' के साथ जुड़ सकता है। पुस्तक के मध्यम भाग में लेखक उन लोगों का संक्षिप्त जीवन वृत्त और कर्म शैली प्रस्तुत करता है जिन साधकों और सिद्धों ने सनातन धर्म की मूल अवधारणाओं को आत्मसात किया है; उसे अपने जीवन और कर्म में उतारा है। इसमें प्रमुख नाम हैं सर्वग्राही-सर्व समावेशी संस्कृति के प्रणता रामकृष्ण परमहंस, करुणा की अवतार माँ शारदा, समर्पण निष्ठा के प्रतिरूप लाटू महाराज (अद्भुतानंद), गृही संत नाग महाशय और नव वेदांत के अप्रतिम प्रवक्ता स्वामी विवेकानंद। इन सभी सिद्धों-साधकों ने पूरी परंपरा को आत्मसात कर अपने अपने ढंग से उसका साक्षात् रूप लोकमानस के सामने रखकर उन्हें अपने युग की समस्याओं से जुड़ने की प्रेरणा दी। पुस्तक का अंतिम भाग दो परिशिष्टों का है संस्कृति का गोचर लय और शिवोन्मुख सौंदर्य: रस विमर्श। इन परिशिष्टों में मूलतः सुप्रसिद्ध लेखक और संस्कृति चिंतक विद्यानिवास मिश्र की सांस्कृतिक सोच का सर्वस्वासार है। उनकी विश्वदृष्टि में

शास्त्र और लोक के समन्वय पर जोर था। इस प्रकार इस पुस्तक में सनातनता का वैचारिक विवरण, विभिन्न साधकों के जीवन का व्यावहारिक प्रसंग तथा बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हमारी संस्कृति पर विद्यानिवास मिश्र की सोच को लिपिबद्ध किया गया है। लेखक अपने प्रयास में सफल दिखते हैं। पुस्तक की उपादेयता के बारे कोई शक-सुबहा हो ही नहीं सकता।

लेकिन मैं एक समीक्षक के नाते इस पुस्तक के विषय में तीन टिप्पणी करना चाहूँगा। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि सनातन/हिंदू संस्कृति कहने से क्या एक सवर्ण अभिजात वर्ग की संस्कृति का ही बोध होता है? क्या इसे ही कुछ दलित और वामपंथी बुद्धिजीवी ब्राह्मण-संस्कृति के नाम से पुकारते हैं? यह सही है कि भारतीय संस्कृति का मूल स्वर तो सनातन धर्म, जिसे इतिहास के दौर में हिंदू धर्म कहा जाने लगा, का ही रहा है। लेकिन, यह तथ्य भी तो उतना ही सही है कि आज देश के दलित और अल्पसंख्यक वर्ग उससे अपने को जोड़ नहीं पाते। क्योंकि सनातन धर्म की जाति व्यवस्था में परिवर्तित वर्ण व्यवस्था एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था बन गयी थी। इतिहास के क्रम में सनातन धर्म की सामाजिक व्यवस्था शुद्धता-अशुद्धता और श्रेणीवद्धता पर आकर रुक गयी थी। यह भी तथ्य है कि स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद जैसे विचारक रचनात्मक और संघर्षात्मक दोनों स्तरों पर इसके निराकरण के लिए काम करते रहे। लेखक अगर इन सारे प्रयासों का एक तथ्यात्मक आकलन प्रस्तुत करता, तो पुस्तक की उपादेयता ज्यादा बढ़ जाती। तब भारतीय संस्कृति का सर्वसमावेशी और सर्वग्राही रूप ज्यादा निखर कर आता। इस संबंध में एक समस्या अपनी संस्कृति के नामकरण को भी लेकर उठती है इसे सनातन/हिंदू संस्कृति कहें या भारतीय संस्कृति। क्योंकि मात्र सनातन/हिंदू संस्कृति कहने से इससे न दलित और अल्पसंख्यक/खड़े दिखते हैं, बल्कि सनातन परिवार के अन्य पंथ जैसे बौद्ध, जैन, सिख, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि भी इस पाँत से बाहर हो जाते हैं। यह तो एक सर्वविदित रामकृष्ण मिशन के लोगों ने अपने को हिंदू धर्म से अलग रखने के लिए उच्चतम न्यायालय में याचिका दे रखी थी। इस समस्या पर संस्कृति-कर्मियों को गहन विचार करना होगा। क्योंकि फिनिक्स पक्षी की तरह इसमें अपने को पुनर्जीवित करने की क्षमता तो है, लेकिन ठीक अपने पुराने रूप में नहीं। इसका हर पुनर्जन्म एक परिवर्तित और संवर्द्धित रूप में होता है, जिसमें बदलते देश-काल के स्वरूप का अपना योगदान होता है। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इसे ही *संस्कृति के चार अध्याय* कहा था। कुछ लोग इसे साझी संस्कृति या गंगा-जमुनी संस्कृति भी कहते हैं। ऐसा कहकर वे लोग भारतीय संस्कृति के सर्वग्राही और सर्वसमावेशी स्वरूप को ही रेखांकित करते हैं। सब मिलाकर यह प्रश्न विचारणीय है कि इसे सनातन/हिंदू संस्कृति, जैसा लेखक ने कहा है, या साझी भारतीय संस्कृति कहें? एक बात और। इस पुस्तक को पढ़ते समय मुझे हिंदी क्षेत्र की विशेष समस्या पर ध्यान गया है। यहाँ बुद्ध-महावीर के बाद

सांस्कृतिक परिवर्तन की कोई बड़ी धारा प्रवाहित नहीं हुई है। चाहे बात मध्ययुग की हो अथवा उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक-धार्मिक उत्थान के आंदोलन की। मध्ययुग में आदि शंकराचार्य से लेकर बल्लभचार्य तक सभी आचार्य हिंदी क्षेत्र के बाहर के थे। उसी तरह उन्नीसवीं सदी के सभी बड़े धर्म सुधारक जैसे, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद आदि भी हिंदी क्षेत्र के बाहर के ही थे। इस प्रकार हिंदी क्षेत्र में राजनीति और राजनेताओं की ही वर्चस्वता रही है। यह आश्चर्य की बात इसलिए भी है कि यहाँ काशी और मिथिला पारंपरिक विद्या के दो बड़े केंद्र रहे हैं। फिर कोई बड़ा सांस्कृतिक कार्य इस क्षेत्र में क्यों नहीं हुआ? महाराष्ट्र में 'ज्ञानेश्वरी' से लेकर 'गीताई' ने उसके सांस्कृतिक जीवन में अहम भूमिका निभायी है। काशी-मिथिला के विद्वानों द्वारा इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं दिखता। वर्तमान पुस्तक का शब्द चयन, भाषाशैली इतनी शास्त्रीय और तत्सम है कि साधारण जन के लिए इसे समझकर आत्मसात करना एक असंभव कार्य हो सकता है। हिंदी क्षेत्र के विशिष्ट वर्ग के विद्वान ज्ञान के प्रजातंत्रीकरण और साधारणीकरण की समस्या को कब तक नजरअंदाज करते रहेंगे। इस समस्या पर हम सबको मिल बैठ कर विचार करना चाहिए।

स्त्री-पुरुष जटिल अन्तर्सम्बन्धों को व्याख्यायित करती अनूठी औपन्यासिक कृति*

घनश्याम मैथिल 'अमृत'***

यशस्वी साहित्यकार, अध्यापक, प्रखरवक्ता, चिन्तक, संस्कृति के गहन अध्येता, उद्भट विद्वान प्रो. रमेशचन्द्र शाह पिछले कई दशकों से निरन्तर लिख रहे हैं। वे साहित्य की सभी विधाओं में साधिका सृजन करते हैं। राष्ट्रीय स्तर की विभन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर उनकी उपस्थिति और लगातार समय-समय पर प्रकाशित होनेवाली उनकी चर्चित कृतियाँ उनकी सतत सृजनशीलता का प्रमाण है। उन्हें म. प्र. साहित्य अकादमी का भवानी प्रसाद मिश्र पुरस्कार, म. प्र. शासन के संस्कृति विभाग द्वारा 'शिखर सम्मान', के.के. बिड़ला न्यास द्वारा व्यास सम्मान एवं साहित्य में उनके अद्वितीय योगदान के लिए महामहिम राष्ट्रपति द्वारा पद्मश्री अलंकरण से अलंकृत किया जा चुका है। हाल ही में वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से उनका *असबाब ए वीरानी* नामक उपन्यास प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख आया है। इस उपन्यास को साहित्य अकादमी म.प्र. संस्कृति परिषद् भोपाल ने क्रय करके पाठक मंच केन्द्रों के माध्यम से प्रदेश भर के रचनाकारों और आम पाठकों को उपलब्ध कराया है।

श्री शाह के इस उपन्यास *असबाब ए वीरानी* में कुल 23 अध्याय हैं, यानी 151 पृष्ठों में पूर्ण होनेवाली इस रोचक कृति को लघु उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता इसमें पठनीयता का गुण होना है। पाठक इसके प्रथम पृष्ठ, यानी इसमें उपन्यासकार द्वारा लिखी गई 'एक जरूरी भूमिका' से इस उपन्यास को पढ़ना प्रारम्भ करता है तो उसके अन्तिम पृष्ठ पर पहुँच यानी कृति को अद्यतन समाप्त करके ही विराम लेता है। उपन्यास की समाप्ति के पश्चात् कुछ

* असबाब-ए-वीरानी (उपन्यास), लेखक : रमेशचंद्र शाह, प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; पृ. 151, 250 रु.

** घनश्याम मैथिल 'अमृत', जी/एल 434, अयोध्या नगर, फेस-II, भोपाल-462042 (म.प्र.), मो. 09893803743

अनुत्तरित प्रश्न पाठक के मस्तिष्क में अंत तक तैरते रहते हैं। ऐसा लगता है, जैसे उपन्यासकार ने कुछ प्रश्नों और जिज्ञासाओं के समाधान स्वयं पाठक के लिए छोड़ दिए हैं।

यह उपन्यास फारेस्ट रेस्ट हाउस में लेखक को मिली एक डायरी से प्रारम्भ होता है, जिसमें अनाम अपरिचित व्यक्ति निज व्यथा-कथा को लिखने का अनुरोध लेखक से करता है। पूरा उपन्यास इसकी नायिका अनु और एक वरिष्ठ वन अधिकारी, जिसे इस उपन्यास का नायक कहा जा सकता है तथा नायिका अनु के पति नीतीश के इर्द-गिर्द घूमता है। डायरी के पृष्ठ-दर-पृष्ठ खुलते जाते हैं और कथा पूरे रोमांच एवं रोचकता के साथ आगे बढ़ती जाती है। दस उपन्यास का नायक जो स्वयं साहित्य प्रेमी, विद्वान, वनस्पतिशास्त्र का ज्ञाता और वनविभाग में उच्च पदाधिकारी है, पर्यावरण विज्ञान के अपने मेधावी शिष्य एवं अधीनस्थ अधिकारी के रूप में पदस्थ नीतीश की युवा पत्नी अनु के साहित्य प्रेम, वाक्चातुर्य से प्रभावित होकर उसके प्रति संवेदनशील और भावुक हो उठता है। वरिष्ठ वन अधिकारी के जीवन में अनु का प्रवेश, उथल-पुथल मचा देता है। नायिका की बुद्धिमत्ता, अध्ययनशीलता तर्क करने की क्षमता उसे गहरे से प्रभावित करती है। यहाँ तक तो सब कुछ सामान्य चलता रहता है। नायक इस महिला के व्यवहार, उसकी आत्मीयता, निकटता को लेकर अजीब असमंजस की स्थिति में रहता है। एक दिन अचानक अनु अपनी समस्त मर्यादाओं को तिलांजलि देकर नायक से खुला प्रणय निवेदन कर डालती है, यहाँ तक कि वह लाज-शर्म के सभी बन्धनों को तोड़ते हुए नायक के समक्ष मानसिक ही नहीं शारीरिक रूप से भी समर्पण कर देती है। अर्धेड़ावस्था के नायक का संयम भी जवाब दे जाता है और वह भी मान मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, परिवार, समाज आदि के सब बन्धनों को शिथिल करते हुए नायिका के प्रेम ज्वार में डूब जाता है। इस महत्त्वपूर्ण घटना का एक दृश्य देखिए।

मैंने ही उसे खींच लिया अपनी बाँहों में? कि वही खुद मुझसे आ चिपटी?

उसने पहले मेरी आँखों को चूमा कि मैंने पहले उसकी आँखों को? पहले मेरे ओंठ उसके ओंठ से जा लगे कि उसके? कुछ भी तो भान नहीं मुझे। जाने कित्ती देर तक हम चूसते-चूसते रहे एक-दूसरे की...मुझे तो ऐसा ही याद पड़ता है कि उसी ने वह सब किया था... मैं तो अपनी सुधबुध ही गँवा बैठा था। अनु मुझे छोड़ ही नहीं रही थी। दोनों बाँहों से मुझे कसके भींचे वह मुझे चूमे जा रही थी चूमे ही जा रही थी, और बीच-बीच में फिर उसी तरह अपनी हथेलियों में मेरे चेहरे को थामे, अपने पूरे बदन का बोझ मुझ पर डाले वह मुझ पर झुकी हुई थी। वह मुझे अजीब से कौतूहल से निहार रही थी और मैं मुग्ध-सा उसका नाम जपे जा रहा था, अनु! अनु!...

इस प्रकार इस प्रबल आदम भूख के आवेग में अब तक का सँजोया गया संयम नियम, मान-मर्यादा सब कुछ बह जाता है, शेष रह जाती है, तूफान के बाद

तहस-नहस उजाड़-सी खामोशी। इसे नायक नायिका का प्रेम कहें या वासना का आवेग, जिस प्रकार तीव्र प्रकाश में आँखें चकाचौंध में अपनी सामने उपस्थित वास्तविक दृश्यों को भी ठीक से नहीं देख पाती हैं। ऐसे ही प्रेम का आलोक जब नायक नायिका के हृदय पर छा जाता है तो उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता है। उनका प्रेमातुर हृदय इतना दीवाना हो उठता है कि उनका विवेक भी कुन्द हो जाता है। फिर ज्ञान-अज्ञान, सत्-असत् मान-मर्यादा के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है। इस उपन्यास में एक ओर तीव्र आकर्षण, दूसरी ओर असाधारण व्यक्तित्व तथा बुद्धिमत्ता और बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष, तर्क-सम्मत वाणी मुखर प्रगल्भा की स्वीकारोक्ति और डायरी लेखक का अन्तर्द्वन्द और वहिर्द्वन्द्वजन्य मनोदशा अनुभूते घटनाक्रम का सृजन करती है।

जब डायरी लेखक को यह ज्ञात होता है कि उसके जीवन-भर की तपस्या उसके संयम को एक क्षण में नष्ट करने की नायिका की चेष्टा स्वयं उसके अपने पति द्वारा रची गई प्रेरणा और प्रबल अनुरोध का परिणाम है तो यह विस्मयकारी रहस्योद्घाटन उसे अचम्भित करता है। नायक को एक पुराना फोनालाप स्मरण में आता है, जब नीतीश अपनी पत्नी अनु के बारे में कुछ यों कहता है 'सर, आपको क्या बताऊँ आपने इस अनु का कैसा कायाकल्प कर डाला है। कायाकल्प के सिवाय और इसे क्या कहा जा सकता है सर, मैं नहीं जानता। मैं तो एकदम चकरा ही गया हूँ कि क्या यह वही औरत है या कोई और? आपको कितना अटपटा लग रहा होगा, मगर मुझे कहने दीजिए सर! कहे बिना रहा नहीं जा रहा है मुझसे कि आपने एक ऐसी स्त्री को, जिसे मुझे लगता था, अपने स्त्री होने का ही भान नहीं है, उसे सचमुच की एक भरी-पूरी स्त्री में बदल डाला है। उसके स्त्रीत्व को जगाकर, जिसका पता ही उसे अभी तक नहीं चला था। आपके सामीप्य ने उसे क्या से क्या कर डाला है सर...मैं कितना कृतज्ञ हूँ... यह आपको बताए बिना मुझे कल ही नहीं पड़ सकती थी।' इस प्रकार सहसा अविश्वसनीय-सा लगने वाला आश्चर्यजनक घटनाक्रम उसे अन्दर तक झकझोर देता है। एक पति कैसे अपनी पत्नी को पर पुरुष जो कि उसका आदर्श है, उसके गुरु के समान है, उसके साथ अपनी सहधर्मिणी को प्रेम करते देखना चाहता है। वह अपनी पत्नी को गुरु को समर्पित कर कौन-सा दान देना चाहता है। अपनी पत्नी को कोई भी पति कैसे, किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप आनन्दित हो सकता है, यह समझ से परे है, एक भारतीय नारी के नारीत्व को जागृत करने का यह कैसा अमानुषिक एवं अव्यावहारिक प्रयोग है। और अन्त में जब नायिका उस अकल्पनीय प्रबल पाश में बद्ध होकर अपनी सुध-बुध खो बैठती है, तब पति और प्रेमी के बीच भटकता उसका अन्तर्मन भीषण द्वन्द्व बन जाता है। नायिका के नायक के प्रति पूर्ण अनुरक्त मन की दशा पति के लिए असहनीय हो जाती है, ऐसे में पति का ईर्ष्याजनित क्रोध एक

वैचित्र्य का सृजन करता है, प्रेमी से न मिलने देने का आदेश पति के ईर्ष्या दग्ध हृदय की पीड़ा का परिचायक है।

डायरी लेखक जो कभी तटस्थ धीर गम्भीर संयमित जीवन जीता था, मृगतृष्णा के मोह-सी अँधेरी निशा में भटक गया। उसकी निर्णायक क्षमता खो गई। एक भीषण विभीषिका से ग्रस्त मार्ग से भ्रष्ट मानव के लिए अब मात्र पश्चात्ताप की अग्नि में निरन्तर जलते रहने का विकल्प है। शेष बचता है जो उसके अज्ञातवास में पलायन करने का निर्णय लेने में सहायक होता है। आत्मग्लानि से विदग्ध हृदय कहाँ शान्ति पाएगा, कुछ निश्चित नहीं, अनिर्णय की स्थिति है। कुछ भी हो नायक प्रायश्चित्त का कोई भी मार्ग अथवा आश्रय ढूँढ़े, परमपिता की शरण में जाए, उपन्यास पाठक की उत्सुकता बनाए रखता है। लेखक अंग्रेजी के प्रोफेसर तो रहे ही साथ ही हिन्दी के भी उद्भट विद्वान हैं, इसका पूर्ण प्रभाव उनकी प्रबुद्ध शैली और भाषा चयन में स्पष्ट परिलक्षित होता है। अप्रत्याशित घटनाक्रम पाठक को चमत्कृत करता है। सामाजिक, पारिवारिक मान्यता, यथार्थ के धरातल से परे बनाए गए ऐसे सम्बन्धों की परिणति ऐसी ही होती है। यही इसकी नियति है। लेखक इस प्रकार अपना मन्तव्य स्पष्ट करने में सफल रहा है।

भारतीय राष्ट्रियता का प्रश्न*

वरुण कुमार तिवारी**

सुप्रसिद्ध कथाकार डॉ. मधुकर गंगाधर की सद्यः प्रकाशित कृति 'भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद' समकालीन भारतीय राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य में अनेक वैचारिक प्रश्नों से मुठभेड़ करती हुई 'राष्ट्रवाद' की एक मानक परिभाषा तलाशती है और इस संदर्भ में भारतीय इतिहास को भी खँगालती है। कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, व्यंग्य, संस्मरण, रेडियो-लेखन, संपादकीय, निबंध आदि में उनके विचार छन-छन कर प्रकट होते रहे हैं, लेकिन पुस्तक रूप में भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद पर उनके विचारों का आना निश्चय ही सुखद एवं प्रासंगिक है।

'राष्ट्रवाद' के विवेचन में सुप्रसिद्ध विचारक सर वाल्टर स्कॉट का कथन है क्या कोई ऐसा मनुष्य जीवित है, जिसकी आत्मा इतनी मर चुकी है, कि जिसने अपने-आप से यह कभी नहीं कहा कि यही मेरा अपना देश है? वस्तुतः राष्ट्र, राष्ट्रियता तथा राष्ट्रवाद जैसे शब्दों की कोई मानक परिभाषा प्रस्तुत करने में कठिनाई यह है कि उनका प्रयोग पर्याय के रूप में या फिर विविध प्रसंगों में विविध रूपों में किया जाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल, राबर्ट ब्राडिस, रैम्जे म्योर, गार्नर आदि विद्वानों द्वारा राष्ट्र की जो परिभाषाएँ की गई हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र जन-समुदाय में विद्यमान एकता की वह विशेष भावना है, जो इस जन-समुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियंत्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करता है।

यह सच है कि कानूनी दृष्टिकोण से राष्ट्रियता की व्याख्या राज्य की सदस्यता के रूप में की जाती है, परंतु तात्त्विक दृष्टिकोण से राष्ट्रियता को एकानुभूति समझा जाता है, जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, नस्ल संबंधी, सांस्कृतिक तथा अन्य ऐसे ही

*भारतीय स्टेट बैंक कॉलोनी, वीरपुर 854340, (जि. सुपौल) बिहार

**समीक्षित कृति : भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद, लेखक : डॉ. मधुकर गंगाधर, प्रकाशक : मुकुल प्रकाशन, रघुवंशी निकेतन, सान्निध्य कात्यायनी शक्तिपीठ मंदिर, छतरपुर, महारौली, नई दिल्ली 110074; प्रथम संस्करण : 2012; मूल्य : 200 रुपए

बंधनों से उत्पन्न होती है। वर्तमान में राष्ट्रियता को एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना समझा जाता है। अपनी पुस्तक 'नेशनल एंड गवर्नमेंट' में प्रो. ए.ई. जीमर्न (A.E. Zimmern) इसी रूप में राष्ट्रियता की व्याख्या करते हैं "राष्ट्रियता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिलकुल नहीं है, यह प्रमुखता एवं अनिवार्यतया एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रियता धर्म की भाँति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है तथा अनुभव करने, विचार करने और रहने का एक ढंग है।" गिलक्राइस्ट ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि राष्ट्रियता एक आध्यात्मिक भावना अथवा सिद्धांत है, जिसकी उत्पत्ति उन लोगों में होती है, जो साधारणतया एक जाति के होते हैं, एक भूखंड पर रहते हैं, जिनकी एक भाषा, एक धर्म, एक-सा इतिहास, एक-सी परंपराएँ एवं सामान्य हित हैं तथा जिनके एक-से राजनीतिक समुदाय और राजनीतिक एकता के एक से आदर्श होते हैं।

विवेच्य पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में लेखक कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से उलझता है और उनके समाधान की खोज करता है; यथा राष्ट्र और राष्ट्रियता की पहचान कैसे हो? राष्ट्र और राष्ट्रियता की समीक्षात्मक परिणति क्या होगी? किन राहों से चलकर राष्ट्रवाद की भावना आज तक यात्रा करती रही तथा देश-काल और पात्र के अनुसार चिंतकों ने किन-किन रूपों में इसे स्वीकार अथवा विश्लेषित किया है?

लेखक डॉ. मधुकर के अनुसार इतिहास राष्ट्र को भौतिक स्वरूप और व्यक्तित्व देता है, लेकिन वह इतिहास से बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं होता, क्योंकि राष्ट्र अंतः मनुष्य की सामूहिक जीवनेच्छा का प्रतीक है। लेखक ने प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध की स्थितियाँ एवं प्रतिफलन को खँगालते हुए राष्ट्रवाद की चेतना-शक्ति का विश्लेषण किया है और इस तथ्य को रेखांकित किया है कि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रियता की भावना ने ही रूस, अमेरिका, भारत, चीन आदि देशों को मुक्ति दिलाई और आज भी दुनिया के कई देश इसकी मदद से मुक्ति पा रहे हैं। लेखक का कहना सही है कि नए राज्य के उदय के साथ अमेरिका, रूस, एशिया-अफ्रीका के अनेक देशों ने जिस राष्ट्रियता की भावना को अपनाया है, वह कई अर्थों में नवीन है, क्योंकि उन्हें औद्योगिक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों की नई समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। नई वैज्ञानिक उपलब्धियों एवं विश्वव्यापी औद्योगिक व्यापारिक चलन के बीच राष्ट्रियता की आज क्या स्थिति हो, यह चिंतन का विषय है। लेखक की दृष्टि में भारत के संदर्भ में यह बात अधिक गंभीरता से विचारणीय है, क्योंकि अति प्राचीन काल से भारत ने राष्ट्र और राष्ट्रियता को राज्य, धर्म, भूखंड, भाषा, संस्कृति से अलग एक जीवंत प्रतिमा की तरह पूजा है।

डॉ. मधुकर की धारणा है कि मध्य एशिया के जलप्लावन, जिसका वर्णन बाइबिल, इस्लामिक तथा आर्य साहित्य में भी है, के पूर्व आर्यों का अस्तित्व था और वे पूर्ण उन्नत सभ्यता-संस्कृतिवाले थे। लेखक ने आर्यों के साहित्य वेद, संहिता,

उपनिषद् आदि के आधार पर उनकी राष्ट्रीयता की भावना को जानने की कोशिश की है और इस संदर्भ में ऋग्वेद के मंत्रों का उल्लेख किया है संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।। “सब साथ-साथ चलें; सब साथ-साथ बोलें” यानी संपूर्ण राष्ट्र का एक वचन हो, एक कर्म हो। एकता और संघ चेतना का जो आह्वान वेदों में किया गया है, वह आज भी किसी भी राष्ट्र के लिए उतना ही सत्य और आवश्यक है, जितना अपने स्थापना-काल में था। लेखक का तर्क है कि जनपद से राज्य और राज्य से साम्राज्य होने और उसके विघटन की प्रक्रिया निरंतर चलती रही, किंतु कई राज्यों, जातियों, भाषाओं में बँटे भारतवर्ष में ‘संपूर्ण आर्चावर्त एक है’ की राष्ट्रीय चेतना पर कोई आँच नहीं आई।

पुस्तक के तीसरे-चौथे अध्यायों में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के वैशिष्ट्य एवं उनके साहित्य के आलोक में राष्ट्रवाद की परिव्याप्ति की चर्चा है। लेखक के अनुसार जैन साहित्य में आदिकाल से ही समूचे भारत वर्ष को एक राष्ट्र के रूप में देखने की परंपरा रही है। यहाँ जाति, धर्म, वर्ण और सभी राजनीतिक इकाइयों से परे, एक महाजातीय चिंतन (Racial Thought) को ही महत्त्व दिया गया है। बौद्ध काल में मगध, वत्स, कौशल, अवंति, वैशाली आदि जनपदों में राजतंत्र और प्रजातंत्र दोनों ही तरह के शासन थे। इन जनपदों में राजनीतिक विभिन्नता के बावजूद भाषा, संस्कृति और संस्कार की एकसूत्रता थी और संपूर्ण भारत एक राष्ट्र बना हुआ था। उस समय भ्रमणशील साधुओं, भिक्षुकों के माध्यम से भी पूरा देश एक सूत्र में बँधा हुआ था। उस समय का भारत समुद्र-पार तक फैला हुआ, एक अभूतपूर्व समन्वयकारी भारतीय राष्ट्र था।

लेखक ने हिंदू वाङ्मय यानी वेद के बाद इस्लाम के पूर्व तक रचे गए तमाम साहित्य, जिनमें सत्ता, समाज और उनके व्यवहारों-विचारों का आकलन है, में उपस्थित राष्ट्रवाद के तत्त्वों का अन्वेषण किया है। उनके अनुसार कश्मीर से कन्याकुमारी और गांधार से मणिपुर तक ही नहीं, बल्कि कंबोडिया, थाईलैंड, जावा, सुमात्रा तक गुप्तकाल के स्वर्णिम समय में भारतीय सत्ता और संस्कृति की ध्वजा फहराता था तथा संपूर्ण भारत में अखंड राष्ट्रीयता थी। इस काल में रचित विष्णु पुराण और वायु पुराण में भारत राष्ट्र की परिभाषा दी गई है उत्तर में हिमालय और दक्षिण में समुद्र तक के भौगोलिक ईकाई को ‘भारत वर्ष’ तथा इसकी प्रजा को ‘भारतीय’ कहा गया है। इस काल के कवि कालिदास ने अपने ‘कुमारसंभव’ ग्रंथ में हिमालय को ‘देवात्मा’ और हिमालय की वादियों को ‘देवभूमि’ कहा है।

अथर्ववेद के ‘पृथ्वी सूक्त’ में कहा गया है कि यहाँ विविध विचार और धर्म वाले लोग हैं, लेकिन उनमें एकता एवं समन्वयवादिता की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है। राजा पृथु, इक्ष्वाकु, विवस्ववान के पुत्र मनु, ययाति, मान्धाता एवं नहुष की भारतवर्ष के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का उल्लेख पुराणों में मिलता है। चारों धाम की

कल्पना देश की एकता का सूचक है। शंकराचार्य ने इन्हीं चारों धाम में चार मठों की स्थापना की थी बद्री-केदार में ज्योतिर्मठ, पुरी में गोवर्धन मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ और द्वारका में शारदा मठ। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु एवं कावेरी ये सात पवित्र नदियाँ उत्तर एवं दक्षिण को एकता के सूत्र में पिरोते हुए मातृभूमि के अखंड स्वरूप का परिचय प्रदान करती हैं। हिंदू-काल के नरेशों की धर्म-सहिष्णुता भी राष्ट्रीय उत्थान में सहायक सिद्ध हुई।

सम्राट अशोक ने अपने लेखों में सभी धर्मों के आदर पर बल दिया। गुप्त कालीन चीनी यात्री फाहियान के अनुसार उसके आगमन के समय सभी धर्मों के देवालय भारतीय केंद्रों में थे तथा नागरिक के व्यक्तिगत विषयों में राज्य का हस्तक्षेप नहीं था। प्रयाग में आयोजित धर्म-सभाओं में सभी धर्मावलंबी आमंत्रित होते थे और उन्होंने सबको समान रूप से दान दिया था।

लेखक ने राजपूत जाति के उदय एवं उत्कर्ष का उल्लेख करते हुए अपना मत दिया है कि मौर्य और गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद देश में खंडगत राज्यसत्ता का उदय हुआ। इसी सिलसिले में भारत के आयुध-जीवी तथा राजवंशों के टूटे-बिखरे लोगों ने अपने को ‘राजपूत’ कहना शुरू किया और ‘राजपूत’ जाति का उदय हुआ। लेखक के मत में राजपूत मूलतः सूर्य-चंद्र-नागवंशी क्षत्रिय ही थे, जो आयुधजीवी, परमवीर और राष्ट्रधर्म के रक्षक थे। छिन्न-भिन्न होते हुए राजपूतों ने छोटे-छोटे राज्यों के रूप में भारत की राष्ट्रीयता को अक्षुण्ण रखा। उस समय के इतिहास का सच यह है कि साढ़े छह सौ वर्षों तक (सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु यानी 449 ई. से तराइन के द्वितीय युद्ध में मुहम्मद गोरी द्वारा पराजित पृथ्वी राज चौहान की हत्या तक) भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था; फिर भी संपूर्ण भारत को ‘अपना’ मानने की राष्ट्रीय भावना कायम थी।

सल्तनत काल को खँगालते हुए लेखक ने उल्लेख किया है कि मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद उसका गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक भारत का सुल्तान बना तथा तुर्क अफगानों का यह सिलसिला अगले 320 वर्षों तक चलता रहा, जब 1526 ई. में पानीपत में इब्राहीम लोदी को परास्त कर मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी। गुलाम, तुगलक, लोदी वंशों के सुल्तानों ने दिल्ली को सुरक्षित रखने के लिए देश-भर में तलवार की ताकत दिखलाई और सिर उठानेवाले राजाओं को कुचल दिया। किंतु लोगों को विश्वास में लेने की चेष्टा कभी नहीं की। कुछ हुक्मरानों ने जजिया कर देने के बाद हिंदू जनता को पूजा-पाठ का हक देना चाहा। लेकिन अधिकांश सुल्तान अपने कट्टरपन पर कायम रहे, जिसके कारण दोनों समुदाय एक नहीं हो सके। इस काल को लेखक ने ‘संस्कृति और सभ्यता का संक्रांति-काल’ कहा है। इसके पहले तक शकों, हूणों, कुशाणों आदि विदेशी आक्रांता यहाँ के संस्कृति में घुल-मिलकर एक हो गए थे। अब विजेता विजित को अपने में समाहित करना चाहता था, जो असंभव था।

लेखक के अनुसार ऐसी अवस्था में भारत एक संक्रमित और नई समन्वित राष्ट्रीयता की जन्मभूमि बनने जा रहा था।

1773 ई. में वारेन हेस्टिंग्स को भारत में ब्रिटिश प्रशासन का पहला गवर्नर जनरल बनाया गया। उसके बाद भारत का प्रशासन एक के बाद एक बार्डस गवर्नर जनरल के हाथ में रहा और कंपनी युद्ध तथा कूटनीति के द्वारा भारत में अपने साम्राज्य का उत्तरोत्तर विस्तार करती रही। मैसूर के साथ, मराठों के साथ, सिखों के साथ इत्यादि लड़ाइयों के फलस्वरूप 1857 ई. तक सारे भारत में कंपनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अंग्रेजी राजभाषा बना दी गई। सारे देश में जाब्ता दीवानी और जाब्ता फौजदारी कानून लागू कर दिया गया, जिससे सारे देश में एकता की नई भावना पैदा हो गई। ईसाई धर्म का प्रचार, लार्ड डलहौजी द्वारा जब्ती, भारतीय सिपाहियों की शिकायतें आदि कारणों ने मिलकर सारे भारत में एक गहरे असंतोष की आग धधका दी, जो 1857 ई. में गदर के रूप में भभक उठी। कंपनी के लिए पूरे भारत में फैली अराजकता को संभालना कठिन था, लेकिन भारत जैसे विशाल बाजार और गुलाम सोने की चिड़िया को छोड़ना भी संभव नहीं था। अंतः क्वीन विक्टोरिया ने भारतीय सत्ता को कंपनी के हाथों से लेकर सीधे ब्रिटिश साम्राज्य में अंगीभूत कर लिया। परंतु कंपनी की सत्ता ने भारत को अनजाने ही एक सूत्र में बाँधने का काम भी किया। तब 'अंग्रेजों ने फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई।

लेखक ने कार्ल मार्क्स को उद्धृत करते हुए लिखा है "कार्ल मार्क्स ने 'द रिवोल्ट इन इंडिया' शीर्षक लेखमाला की अगस्त 4, 1857 वाली कड़ी में (ट्रिब्यून नं. 5072) लिखा कि अंग्रेजों की 'बाँटो और राज करो' नीति के तहत फौज से करीब 80,000 लोगों को या तो निकाला गया या वे अत्याचार से भाग गए।" भारतीय किसान भी खेतों में अनाज की जगह नील उगाने के लिए विवश थे। ब्रिटिश सरकार ने जमीन का बंदोबस्त जमींदारों को दिया था, जिसके कारण किसानों पर भारी बोझ आ पड़ा था। बाढ़ और सूखे के समय भी राहत नहीं मिलती थी। बंगाल के अकाल में लाखों लोग भूख से मर गए। लेखक के अनुसार धीरे-धीरे एक समान पीड़ित लोगों की 'एकता भावना' अदृश्य रूप से ही सही, जन्म लेने लगी। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय आदि सुधारकों के कारण भी 'राष्ट्रीय चेतना' का जन्म हुआ। अंग्रेजों ने बनावटी तौर पर सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर ढील देने के लिए 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की, जिसने कालांतर में अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश किया।

डॉ. मधुकर गंगाधर ने अंग्रेजों के खिलाफ 1771 ई. से 1946 ई. तक के विभिन्न विद्रोहों तथा 'द्वै-राष्ट्रवाद' सिद्धांत की समीक्षा कर इसके प्रमुख बिंदुओं को रेखांकित किया है। लेखक का तर्क है कि अगस्त 1947 में भारत के विभाजन के पीछे मात्र अंग्रेजों की विभेद नीति अथवा मुस्लिम नेता जिन्ना की हठधर्मिता ही नहीं है,

अन्य कारण भी हैं। उनके अनुसार 'धार्मिक उन्मेष' ने भारत के विभाजन में अहम भूमिका निभाई और हिंदुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक नेताओं ने देश को विभाजन के कगार पर खड़ा कर दिया। एक और महत्वपूर्ण कारण था 'सत्ता लिप्सा।' यदि भारत 1946 ई. में ही आजाद हो जाता तो दो राष्ट्र नहीं बनता और शायद नौसैनिक विद्रोह के सर्वोच्च नेता श्री एस.एस. खान के हाथों में सत्ता की बागडोर आती। किंतु राष्ट्रीय नेता नहीं चाहते थे कि सत्ता नौसैनिकों के हाथों में आए। अरुणा आसफ अली ने नौसैनिकों को निरुत्साहित किया। गाँधीजी को नौसेना की बगावत में हिंसा की बू आ रही थी। उन्होंने नौसैनिकों का सारा मामला सरदार पटेल पर छोड़ दिया, जिन्होंने नौसैनिकों के कदम को अनुचित करार दिया; जबकि उस समय वायु सैनिकों ने भी हड़ताल कर दी थी। लेखक के अनुसार यही समय था, जब समर्थ नेतृत्व की जरूरत थी जो इस बिखरे आंदोलन को जोड़कर एक राष्ट्रीय दिशा देता। लेकिन राष्ट्रीय नेतृत्व स्थिति के अनुरूप कार्य नहीं कर सका, जबकि मुंबई की जनता ने नौसैनिकों की भरपूर मदद की थी। अंग्रेज सरकार ने हड़ताल को लूट का नाम दिया और कांग्रेस पार्टी मूक बनी बैठी रही। यहाँ लेखक एक तथ्य पर गौर करने के लिए आग्रह करता है, जो वस्तुतः चिंतनीय बात है। लेखक का कहना है "थोड़ी देर के लिए कल्पना करें कि भारत की सत्ता फौजियों के हाथों आ गई होती तो क्या पाकिस्तान और बांग्लादेश नक्शे पर उतर पाते और क्या आज के दिन जिस प्रकार संसद सदस्यों तक को घूसखोरी और भ्रष्टाचार में निलंबित तथा बर्खास्त किया जा रहा है यह शर्मनाक हालत आ पाती?" आगे लेखक का वक्तव्य है कि "अगर 1946 ई. में नाविक विद्रोह को जन प्रतिनिधियों का साथ मिला होता तो बहुत संभव यह भी था कि देश की आजादी के समय बागडोर जनप्रतिनिधियों के हाथों में आती। कम-से-कम भारत के तीन टुकड़े तो नहीं होते?"

अंतिम परिच्छेद 'आजाद भारत : राष्ट्रीयता' में लेखक ने कई चिंतनीय बिंदुओं को विचार-केंद्र में रखा है; यथा आजादी मिलने के समय और तत्काल बाद हिंदू-मुसलमान के बीच खूनी संघर्ष के लिए कौन उत्तरदायी है कांग्रेस पार्टी ने भी खून-खराबे की जिम्मेदारी नहीं ली थी, गाँधी को भी हिंसा का शिकार होना पड़ा इत्यादि।

लेखक ने भारतीय संविधान के लचीलेपन की प्रशंसा की है, किंतु उनके विचार में यह लचीलापन और संशोधन-वृत्ति उसे सत्ताधारियों का मुखापेक्षी भी बना सकता है। उन्होंने आम आदमी की गरीबी की मुक्ति का प्रश्न भी उठाया है और कर्ज के लिए आत्महत्या करनेवाले किसानों की भी चर्चा की है। उनकी दृष्टि में बहुदेशीय कंपनियों का भारत में जमावड़ा, प्रबुद्ध जनों का विदेश पलायन, नई पीढ़ी का विदेशी रंगों में रँगते जाना आदि हमें सोचने पर विवश करते हैं कि 'हमारी राष्ट्रीयता का स्वरूप कैसा हो?' भारत में एक तरफ निरक्षर, दुःखी लोग हैं तो दूसरी तरफ आर्थिक रूप से अति संपन्न एवं उच्च शिक्षित नागरिक भी हैं 'उनकी राष्ट्रीयता क्या हो?' इन

तमाम प्रश्नों पर सभी नागरिकों को गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श करना चाहिए तथा समस्या-समाधान की दिशा में कार्य करना चाहिए। अन्यथा लाखों लोगों की कुर्बानी से प्राप्त आजादी व्यर्थ हो जाएगी। आखिर प्राचीन काल से आ रही भारतीयता की रक्षा जिस भी कीमत पर करनी होगी। लेखक भारत में नई राष्ट्रीयता और नए राष्ट्र धर्म की वकालत करते हैं।

स्पष्ट है कि डॉ. मधुकर की पत्रकारिता की धारदार कलम से तराशी गई यह चिंतनात्मक कृति न तो इतिहास की पुस्तक है, न राजनीति विज्ञान की और न 'क्या थे, क्या हो गए, और क्या होंगे अभी' के प्रश्नों का पिटारा ही, बल्कि वर्तमान समय में भारतीय राष्ट्रीयता की जटिलता को खेंगालने वाली एक निर्देशिका है, जिसमें वस्तुगत रूप से यह व्याख्यायित है कि भारतीय राष्ट्रीयता कहाँ से और किन-किन रूपों में होकर आई है और आज की मानसिकता में कहाँ खड़ी है और कहाँ उसे रहना चाहिए? विवेचन-विश्लेषण के क्रम में लेखक जगह-जगह अपनी मान्यता तो देता ही है, साथ-ही-साथ पूर्व की मान्यताओं की प्रामाणिकता की जाँचकर उनकी संपुष्टि भी करता है।

फलतः पाठक उल्लेखनीय समस्याओं पर बार-बार चिंतन के लिए विवश होता है। निःसंदेह पुस्तक का विषय-फलक बहुत व्यापक है, जिसमें वैदिक युग, जैन-बौद्ध साहित्य, हिंदू वाङ्मय, राजपूत काल, सल्तनत काल, मुगल काल, ब्रिटिश काल एवं स्वतंत्रता-संघर्ष काल में राष्ट्रीयता चेतना का आकलन है; साथ-ही-साथ राष्ट्रीयता के संदर्भ में समसामयिक जटिलता का भी विश्लेषण है। यह लेखक डॉ. मधुकर गंगाधर की दृष्टि-संपन्नता और राष्ट्रीय चेतना के प्रति गहरी प्रतिबद्धता का द्योतक है। भाषा में सहजता एवं बहते जल-सी प्रवहमानता मौजूद है। आशा है, यह पुस्तक बुद्धिजीवियों-चिंतकों के बीच जागरूकता का काम करेगी।

समीक्षा

सबको उजली धूप*

मृत्युंजय उपाध्याय**

कल्पना के व्योम में विचरण, प्रकृति के रूपमाधुरी के पान एवं स्वप्नों की दुनिया में खोए रहने से कवि-कर्म सिद्ध तो होता है पर जनता पूछती है “जग में अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार क्यों व्याप्त हैं? मानवता के विकास पर प्रश्न चिह्न क्यों लगा है और कवि क्या कर रहे हैं?” प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में कहा था कि साहित्य वही है, जो जागरण का गीत गाए। लोगों को अपने कर्तव्य और अधिकार के प्रति प्रतिबद्ध बनाए। सुमित्रानंदन पंत जब सुकुमार कल्पना और स्वप्नमयता से ऊब गए तो उन्होंने कविता कामिनी को यथार्थता की कठोर और कुरूप धरती पर आने का आमंत्रण दिया और सरल-सहज वाणी की महत्ता बताई

*तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।*

और उन्होंने “देखो भू को, जीव प्रसू को हरित मर्मरित कुंजित गुंजित कुसुमित भू को” के द्वारा कविता को जमीन पर आने का आह्वान किया। प्रस्तुत कृति में काव्य-सौंदर्य के सभी उपादान हैं, पर प्रमुखता है समाजसापेक्षता की। देश की दुर्गति, अवनति पर सोचने की, समुचित समाधान की ओर संकेत करने की तीव्रता सर्वत्र परिलक्षित होती है। कवि का मानना है कि पूरी दुनिया आज बाजारवाद की चपेट में है। आज जो बिकता है, वही टिकता है अन्यथा उखाड़कर जड़ से फेंक दिया जाता है या हाशिए पर रखा जाता है।

*निकलेगा दिनमान, कवि डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रथम संस्करण 2012, साहित्य सहकार प्रकाशन, 29/62, गली नं. 11, विश्वासनगर, दिल्ली-110092, डिमाई पृष्ठ संख्या 96, मूल्य दो सौ रुपये (सजिल्द)
** 9/21, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनवाद 829001 झारखंड, मो. 09334088307

कवि की मान्यता है : “(आम लोग/जन) बाजार जाता है तो महँगाई की डायन उसकी हड्डियाँ तक चबा डालने को लालायित है, रिश्ते और संबंधों में बाजारवाद का बोलबाला है, धर्म, ईमान, भाईचारा सब बाजार के हवाले हो गए हैं। अब कोई फर्क नहीं पड़ता कि कबीर काशी में रहे, मरे या मगहर जाए सब जगह बाजार खुल गए हैं।” (पृ. 7)

आज आम आदमी की क्या हालत है, कवि इस पर विरमता है

बदनीयत होने लगे सुर अमृत के चाव।
असुरों के मन में जगा, प्रतिरोधी दुर्भाव।। (पृ. 18)
छोटा सा दालान मन, घृणा-द्वेष के खेल।
ऊपर उठ, महसूस कर, जग अनंत का मेल।। (पृ. 19)

इतनी ही नहीं उनका भीतर-बाहर द्विधाग्रस्त है। आँखों में घृणा होंठों पर सद्भाव। शकुनि पासा फेंक रहा है और पांडवों की जान साँसत में है

आँखों में नफरत छिपी, होंठों पर सद्भाव।
शकुनी पासे फेंककर, खेल रहा सौ दाव।। (पृ. 20)

राजनीति का रंग जहरीला होने लगा है। नारों के साथ बंदूकें तनने लगी हैं। राजनीति अब हिंसा की पर्याय बन गई है। जनसेवा का तात्पर्य है सत्ता-प्राप्ति “जनसेवा खुद के निकट, कुर्सी चिर उपचार”। (पृष्ठ 21)

कवि को वैश्वीकरण के खतरों की पहचान सबसे ज्यादा होती है। उनकी कविताएँ एक साथ कई मोर्चों पर सन्नद्ध दिखाई देती हैं; व्यापक आर्थिक-राजनीति तक बदलावों को यह प्रश्नापूरित बेधक दृष्टि से देखती हैं

चमक दमक धन से भरे, जहाँ-तहाँ बाजार।
लिए लकड़िया सोचता, कबिरा सार-असार।। (पृ. 26)

लगता है जनता रूपी चिड़िया को बाजार रूपी बाज निगल जाना चाहता है। अतः वह डरा, सहमा, सिकुड़ा रहता है

खाली खाली मन हुआ, डरा-डरा सा आज।
सुना कि चिड़ियों के निकट, कुछ आखेटक बाजा।। (पृ. 33)

वर्ल्ड बैंक, आईएमएफ और पेटेंट कापीराइट के संदर्भ इनकी कविताओं में मिलते हैं। प्रकारांतर से, कभी सीधे

सतरंगी सपने हुए, धूमिल औ' बदरंग।
अपनों से ही जिंदगी, लुटी-पिटी स्वरभंग।। (पृ. 13)

इसमें दो मत नहीं कि कवि ने आज के समय के मूल्यहीनता, अमानवीयता, असंवेदनशीलता, अन्याय, शोषण और विसंगतियों को पूरा आकाश दिया है। परंतु यह समाज का असली चेहरा नहीं है। यह उसका विद्रूप है या फिर मुखौटा है। कवि ने मानवीय संवेदना की खोज की है। उसे जगाने का भरपूर प्रयास किया है और उसका स्वर सर्वत्र आशावादी है

आदमखोरों से बचा, तिनके रख दो चार।
चिड़िया सहमी सी फिरे, दहशत से लाचार।। (पृ. 38)
मुरझाए से फूल थे, कुछ पतझर के पास।
फिर भी हँस-हँस कर दिया, अखिल विश्व को हास।। (पृ. 39)

वह सारी विपरीतता, विषमता, विसंगति के मध्य अनुकूलता, समता, संगति का वातावरण बनाना चाहता है

प्यासे अधरों की बूँ, सहज मधुर मुस्कान।
दूँ फैले अँधियार को, किरणों की पहचान। (पृ. 33)
टूटो मत संताप में, भूलो मत परिवेश।
सुधियों को दे दे गए, गंधभरा संदेश।। (पृ. 33)

वह प्रगति के मार्ग का अथक पथिक है। मार्ग की बाधाएँ उसे जरा भी हतप्रभ नहीं कर सकती हैं न डिगा-हटा सकती हैं। वह 'गिरिपथ का अथक पथिक' (प्रसाद) है, ऊपर, ऊँचे सब झेलता टालता बढ़ता ही जाएगा

कब तक रोकोगे कदम, बिछा पंथ में शूल?
चलने वालों के लिए, कहाँ शूल क्या फूल? (पृ. 37)

प्रेम-पथ का पथिक वह है जो निरंतर चलता रहा है। प्रेम की खोज में भूखा-प्यासा श्रान्त-क्लान्त

जीवन का यह फलसफा, उजला या बदरंग।
साथ चलें, मिलकर जिएँ, प्रेम प्यार के ढंग।। (पृ. 37)

मनुष्य निकल जाए अहं की दीवार से, 'मैं' के अंधे कुएँ से फिर रस का अपार सागर लहराता है। सबको मिलती है उजली धूप या विकास के प्रभूत अवसर, प्रेम प्यार का रस

सूख गई संवेदना, 'मैं' के अंधे कूप।
रस-सागर सबके लिए, सबको उजली धूप।। (पृ. 37)

परिस्थिति की विपरीतता का यहाँ चित्रण है तो उसे अनुकूल बनाने/पराई पीर हरने का दृढ़ संकल्प भी; अंधकार में प्रकाश भरने की दृढ़ता भी

नियति नदी ने जो भरा, संवेदन का नेह।

तम के आँगन जल रही, दीपक सी यह देह।।

आज के मनुष्य के समक्ष सबसे बड़ा संकट है, उसकी मनुष्यता को बचाए, जिलाए रखना, लाख विघ्न-बाधाओं के बावजूद। समाज में मूल्य, नैतिकता, ईमानदारी, पारस्परिकता अपना अर्थ और प्रत्यय खोते जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति भयाक्रांत और संकटग्रस्त है। समाज की कठिन माँग है आदमियत बचाए रखने की। अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार में लिप्त आदमी को सत्य पर लाने के लिए जागरूक करने की

पर-दुख में जो पल गए, वे पल बहुत महान्।

पर मैं कितना कर सका, इस अमृत का-पान?? (पृ. 47)

देश के खातिर अपनी जान की कुर्बानी का जज्बा

वक्त पड़ा तो देश पर, दे दी अपनी जान। (पृ. 23)

परंतु हमारी यह कैसी घटिया मानसिकता है, कृतघ्नता है कि उन्हीं शहीदों का हम अपमान किए चलते हैं

पर साजिश कर कर रहे, हम उनका अपमान।

कवि में आग दहकती है। वह जानता है कि नपुंसक इरादों और खंडित मानसिकता से देश-दशा सुधर नहीं सकती और न मानवता को तरजीह मिल सकती है। वह दीपक-सा अंधकार के विरुद्ध लड़ता रहता है

तम से लड़ते दीप यह, नमन करो स्वीकार।

मन की ज्वाला का किया, तुमने चिर शृंगार।। (पृ. 23)

सिंदूरी रवि ने कहा, सुनो हमारी बात।

ढलने पर भी हूँ वही, जैसा था मैं प्रातः।। (पृ. 12)

कवि प्रकृति-प्रेम, प्रकृति सापेक्षता, प्रकृति संपृक्ति की हद तक चला गया है। वड्सर्वार्थ के समान प्रकृति उसकी अनन्य सहचरी है

बैठा हूँ मैं खोलकर, मन के सभी दुआर।

रे बसंत आना कभी, जीवन में इक बार।। (पृ. 13)

उनका प्रकृति-चित्रण लोक-जीवन से गहरा नाता रखता है। 'साकेत' के नवम् सर्ग में उर्मिला बादलों को देखकर उसके बरसने की कामना करने लगती है। 'दरसो

परसो घन बरसो।' उसी प्रकार कवि उगते सूर्य का स्मरण इसलिए करता है कि वह जेठ में तपेगा, तभी घन बरसेगा

चलो कि उगते सूर्य, तपो जेठ के ताप।

बरसो मरुथल मेघ बन, चढ़ बिजली के चाप।। (पृ. 15)

यह प्रसाद के 'आँसू' की याद दिला देता है

घन में विद्युत चपला सी,

चपला में चपल चमक सी।

आँखों में काली पुतली,

पुतली में श्याम झलक सी।

प्रकृति, प्रेम, जीव, मनुष्य, उसकी दयनीयता-विवशता, बाजारवाद का गहरा संकट, उसके दुश्चक्र में फँसी मानवता, देश-राष्ट्र सबसे कवि का गहरा सरोकार है। यह दोहा है दो पंक्तियों का, पर काम करता है प्रभावकारी। एक साथ कवि के मानस क्षितिज पर अनंत भावों के मेघ मँडराते हैं, वहाँ कल्पनशीलता है तो सामाजिक राष्ट्रीय सरोकार का मुद्दा अहम् है। भाषा पर कवि का सहज अधिकार है। उपमा, रूपक, अप्रस्तुत का मेल है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

Aspects of LAND POLICY in Assam: Continuity and Change, Publisher: The Secretary, Vivekananda Kendra Institute of Culture, Riverside, Uzanbazar, MG Road, Guwahati-781001; Pages: 242; Price: Rs. 550/-

INDIA MOTHER OF US ALL, Chaman Lal; published by AKSHAYA PRAKASHAN, 2/18, Ansari Road, New Delhi-110 002; Page: 208; Price: Rs. 225/-

संघर्ष ममता का, (काव्य-संग्रह); शुभदर्शन; प्रकाशक : विभोर प्रकाशन 5016, जोशीपुरा, निकट खालसा कालेज, अमृतसर-143002 (पंजाब); संस्करण: 2012; पृष्ठ: 112; मूल्य: 250 रुपये।

स्थगित हैं यात्राएँ, शीतांशु शशिभूषण; प्रकाशक: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003; प्रथमसंस्करण: 2012; पृष्ठ: 138; मूल्य: 250 रुपये।

प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन, कमल किशोर गोयनका; प्रकाशक: नटराज प्रकाशन, ए/98, अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली-110052; संस्करण प्रथम: 2012; पृष्ठ: 760; मूल्य: 230 रुपये।

रेणु की कथाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ. छोटे लाल बहरदार; प्रकाशक: राष्ट्रीय प्रकाशन संस्थान, 103, शशि पैलेस, कुल्हड़िया कॉम्प्लेक्स के निकट, अशोक राजपथ, पटना-4; प्रथम संस्करण: मई 2011; पृष्ठ: 80; मूल्य: 110 रुपये।

आधुनिक हिंदी गद्य में समकालीन सच, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय; प्रकाशक: समीक्षा प्रकाशन, जे.के. मार्केट, छोटी कल्याणी, मुजफ्फरपुर-842 001 (बिहार); प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ: 176; मूल्य: 250 रुपये।

कान्हा बजावै बाँसुरिया, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय; प्रकाशक: सूर्यप्रभा प्रकाशन, 2/9, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ: 128; मूल्य: 250 रुपये।

पत्रिकाएँ:

नई धारा, (द्विमासिक), अप्रैल-मई, 2013, वर्ष : 64 अंक: 1-2; संपादक: शिवनारायण; प्रकाशक: प्रथम राज सिंह, मुद्रक: अशोक प्रेस, शेखपुरा, पटना-14; पृष्ठ: 128; मूल्य: 15/ रुपये।

अक्षत, शरद 2012; संपादक: डॉ. श्रीराम परिहार; प्रकाशक: आजाद नगर, खण्डवा से प्रकाशित एवं अलंकार ग्राफिक्सखण्डवा से मुद्रित; पृष्ठ: 74; मूल्य: 25/ रुपये।

इंडिया मीडिया न्यूज, हिन्दी-अंग्रेजी मासिक पत्रिका, वर्ष-1 अंक-1, फरवरी 2013; संपादक: गगन विश्नोई; प्रकाशक: एस. के. प्रिन्टर्स, औद्योगिक एरिया, दिल्ली रोड, मेरठ से छपवाकर कार्यालय 213 वेस्ट एण्ड रोड मेरठ कैन्ट से प्रकाशित किया; पृष्ठ: 62; मूल्य: 25/ रुपये।

परिचय, रामविलास शर्मा पर विशेष, अंक: 12, अक्टूबर: 2012; संपादक: श्रीप्रकाश शुक्ल; 909, काशीपुरम् कालोनी, सीरगोवर्धन से प्रकाशित; पृष्ठ:158; मूल्य: 50/ रुपये।

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4
नियम 8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
 2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
 3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
 4. मुद्रक : राजेश भार्गव
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
 5. प्रकाशक : राजेश भार्गव,
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
 6. सम्पादक : डॉ. बी. बी. कुमार
सम्पादक, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
- मैं राजेश भार्गव घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) राजेश भार्गव
प्रकाशक

28.5.2013

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848